

१. संसार और मोक्ष अर्थात् पूर्व और पश्चिम !!

जिसे मोक्ष पसंद हो, उसे संसार भी पसंद पड़े, इस बात में कोई माल नहीं है। जिसके हृदय में मोक्ष की रुचि जगी है, उसे संसार भयंकर लगेगा ही।

मोक्ष के लक्ष्य में जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई हो, उसे मोक्ष मार्ग पसंद पड़ेगा ही। जिसने मंजिल निर्धारित कर दी हो, उसे मार्ग पसंद पड़ेगा ही।

जिसे संसार के सुख ही पसंद हैं, उसी सुख को पाने के लिए जो तल पापड है। जिसे मोक्ष की श्रद्धा ही नहीं है, बल्कि मोक्ष पर द्वेष रहा हुआ है-उसे **भवाभिनंदी** आत्मा कहते हैं।

जिसे मोक्ष पसंद पड़ा है, परन्तु मोक्ष में जाने की अभी जल्दबाजी नहीं है, जिसके दिल में मोक्ष के प्रति द्वेष नहीं है, बल्कि अनुराग है, उसे **चरमावर्ती आत्मा** कहते हैं।

जिसे मात्र मोक्ष ही चाहिये। मोक्ष को ही पाने के लिए जो तीव्र उत्सुक बना है, उसे आसन्न भवी-निकट मोक्षगामी कहते हैं।

सच्चा सुख साधनों में नहीं बल्कि साधना में रहा हुआ है।

संयमी आत्मा को स्वभाव-लाभ के सिवाय अन्य किसी भी धन आदि के लाभ की अपेक्षा-इच्छा नहीं रहती है।

संसार के सुख, इच्छा करने मात्र से प्राप्त नहीं होते हैं, यदि उसके अनुकूल पुण्य का उदय न हो तो लाख-लाख इच्छा करने पर भी वे सुख नहीं मिल पाते हैं, परन्तु जिसके दिल में मोक्ष सुख पाने की तीव्र इच्छा जगी है, उस आत्मा को मोक्ष के सुख अवश्य ही मिलते हैं।

मोक्ष का सुख शाश्वत है, स्वाधीन है, स्वच्छ है, निरंतर है और सर्वातिशायी है।

संसार के भय से मुक्त बनना हो तो आप अपने मन में भव भ्रमण का भय पैदा कर दें। जिस आत्मा के दिल में भव का भय जगा है, वो ही आत्मा मुक्ति के लिए पुरुषार्थ कर सकती है।

अनादिकाल से अर्थ और काम के प्रति रही हुई तीव्र मूर्च्छा-आसक्ति को दूर किए बिना सद्धर्म का सच्चा राग पैदा नहीं हो सकता।

स्थूल नजर से संसार सुहावना लगता है, परन्तु ज्ञानियों की X-ray दृष्टि से संसार के स्वरूप को देखा जाय तो वह अत्यंत डरावना-भयंकर ही लगता है।

संसार का सुख विषाद-असंतोष को ही पैदा करता है। अपने से अधिक संपत्तिवाले व्यक्ति को देखकर मन में ईर्ष्या पैदा होती है, परिणाम स्वरूप व्यक्ति विषाद ग्रस्त बन जाता है।

संसार के सुख का ज्यों ज्यों भोग किया जाय त्यों त्यों अतृप्ति ही हाथ लगने वाली है।

'त्रण रतन मुझ आपो तातजी ! जेम नावे रे संताप' जोरशोर से इस पंक्ति को ललकारने वाले पर देव प्रसन्न हो जाय और उसे चारित्र का प्रतीक **रजोहरण** हाथ में देने लगे तो वह रजोहरण लेकर नाचने लगे या रजोहरण छोड़कर उसी समय भाग जाएगा ? बोलना अलग है और हृदय में कुछ अलग ही तमन्ना है। मेल कैसे जायेगा ?

संसार और मोक्ष तो पूर्व और पश्चिम जैसे है। जिस प्रकार पूर्व और पश्चिम का कोई मेल नहीं है, उसी प्रकार संसार और मोक्ष का भी मेल नहीं है। जो अंतर पूर्व और पश्चिम के बीच अथवा आकाश और पाताल के बीच है, वो ही अंतर संसार और मोक्ष के बीच है।

जिसे मोक्ष पसंद हो उसे संसार की कोई भी वस्तु अच्छी नहीं लग सकती, यावत् देवलोक के दिव्य सुख भी उसे तुच्छ ही प्रतीत होते हैं।

...और जिसके दिल में संसार के सुख का ही तीव्र राग रहा हुआ होता है, उसे मोक्ष की बातें हंबग झूठी ही लगती हैं, उसे मोक्ष का कोई आकर्षण नहीं होता है...उसे मोक्ष-मार्ग, निरर्थक लगता है।

मंथरा

रामायणकालीन 'मंथरा' तो
सिर्फ एक ही थी, जिसने
दशरथ के महल में ही
आग पैदा की थी,
आज इस कलियुग में घर घर में
नणंद, भोजाई, देरानी जेठानी के रूप में
अनेक मंथराएँ पैदा हो गई हैं, जो
अनेको के घर को
जींदी सुलगा रही है।

धर्मानुरागी दीपक

धर्मलाभ !

परमात्म-कृपा से आनंद है ।

संयम-यात्रा निर्विघ्न चल रही है ।

कल ही तुम्हारा शोक-संतप्त-पूर्ण पत्र मिला । 'पिताजी के अकाल अवसान से तेरा हृदय अत्यंत ही संतप्त हैं' ।

तू लिखता है- 'पिताजी को न कोई बीमारी थी...न कोई व्याधि...उनका स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक था आज चतुर्दशी होने से उन्होंने उपवास का पच-वखाण किया था । सुबह नियत समय पर उठे...सामायिक और प्रतिक्रमण किया...पूजा के लिए स्नान की...कपडे पहिने...पूजा की सामग्री तैयार की...और अचानक उन्हें टोखर लगी-वे नीचे गिर पड़े...उन्हें Heart-Attack आ गया...मैं भी दोड़कर नीचे आया...और वे सदा के लिए चल बसे ।' संपूर्ण वातावरण शोकमग्न हो गया...दोपहर को श्मशान-यात्रा निकली...श्मशान घाट पर पहुँचे, चिता तैयार की गई...और रोते हृदय से मैंने दियासलाई प्रगट की...देखते ही देखते आग भडक उठी...और उनका नश्वर देह मिट्टी में मिलने लगा...मुझे अत्यंत ही आघात लगा । आग की उन लपटों में मैंने उनके देह को भस्मीभूत होते देखा...मेरा मन विह्वल हो गया...मैं जोरो से रो पड़ा...फिर सोचने लगा...हाय ! इस भौतिक देह का यही अंतिम हाल...।'

पिताजी की अकाल-मृत्यु के बाद मुझे अपने जीवन पर शर्म आ रही है...उनका तो धर्ममय जीवन था...फिर भी मृत्यु उन्हें अचानक उठा ले गई...उन्होंने आराधना द्वारा मृत्यु को धन्य बनाया...परन्तु अचानक मृत्यु आ गई तो मेरी क्या हालत होगी ? मेरा यह पापमय जीवन...मेरा कैसे उद्धार होगा ?

'गुरुदेव ! अब मेरी नींद हराम हो गई है, आप ही कुछ उपाय बताए जिससे निराशामय जीवन में कुछ आशा का संचार हो ।'

तुम्हारे इस पत्र को मैंने एक बार नहीं, तीन बार पढ़ा ।

प्रिय प्रवीण ! तू हताश मत बन ! मृत्यु के दृश्य ने तुझे कुछ सोचने / समझने के लिए झकझोरा है ।

पिताजी के अकाल अवसान से तुझे दुःख होना स्वाभाविक है । तुम्हारे शिरछत्र चले गये । परन्तु तुम हताश मत बनो, निराश मत बनो । 'उपवास का पचवखाण...प्रतिक्रमण की शुभ क्रिया प्रभु पूजा का संकल्प और उस हेतु प्रयाण' आदि-आदि ऐसे निमित्त हैं, कि जिससे हम उनके समाधिमय मरण के लिए अवश्य कल्पना कर सकते हैं ।

...जो जन्म लेता है, उसे अवश्य मरना पड़ता है । जिसकी उत्पत्ति है...उसका विलय भी अवश्य होता है...जिसकी आदि हैं, उसका अंत भी है ।

'मनुष्य देह के रूप में हमारी उत्पत्ति हुई है...तो मृत्यु द्वारा उसका अंत अवश्यंभावी है ।'

मिट्टी का घट आखिर कब तक टिक सकता है ? क्या देह मिट्टी से निर्मित नहीं है ? क्षण विनाशी / क्षण भंगुर इस देह की शाश्वतता की कल्पना करना एकदम अनुचित ही है ! जो विनाशी हैं-वह सदा स्थायी कैसे रह सकता हैं ?

विश्व की समस्त जीव-राशि पर मृत्यु का एक छत्री साम्राज्य है । कोई भी संसारी-जीव उसके चंगुल से बच नहीं सकता, फिर चाहे वह चक्रवर्ती हो अथवा हजारों देवों का स्वामी इन्द्र ही क्यों न हो ।

मृत्यु का यमघंट जब बजता है, तब किसी की नहीं चलती है ।

जीवन की क्षण-भंगुरता का बहुत ही सुंदर वर्णन महोपाध्याय श्री विनयविजयजी म. ने 'शांत-सुधारस' ग्रंथ में किया है-

'कवलयन्नविरतं जङ्गमाजङ्गमम्,

जगदहो नैव तृप्यति कृतान्तः ।

मुखगतान् खादतस्तस्य करतलगतै

र्न कथमुपलप्यस्यतेऽस्माभिरन्तः ॥८॥

अर्थ :

'त्रस और स्थावर प्राणियों को सतत ग्रसित करता हुआ, आश्चर्य है कि यह कृतान्त (यमराज मृत्यु) कभी तृप्त नहीं होता है । मुख में रहे हुए (प्राणियों) को खाते हुए...उसकी हथैली में रहे हुए हम उससे छुटकारा कैसे पा सकेंगे ?'

भोजन करने के लिए जब तुम बैठते हो...तब हाथ में रहे कवल का अस्तित्व कब तक रहता है ?

जब तक मुख में रहा कवल निगल न दो तब तक ही न !

बस ! हम भी यमराज के हाथ में रहे हुए हैं और उस कवल की भांति

ही हमारा क्षणिक अस्तित्व है ।

जीवन की इस अनित्यता को जानकर घबराने की आवश्यकता नहीं है ।

‘मृत्यु के द्वारा ही हमें अमरता को पाना है ।’

यह बात भी ध्यान में रखना...मृत्यु के द्वारा हमारा सर्वथा विनाश नहीं है । मृत्यु से देह का नाश होता है-परन्तु देही (आत्मा) का नहीं ।

वस्त्र के परिवर्तन से व्यक्ति बदल नहीं जाता है, इसी प्रकार देह के परिवर्तन से आत्मा बदल नहीं जाती है ।

हमने ‘देह’ के संबंधों को ‘अपना’ मान लिया है...और इसी कारण उन ‘संबन्धियों’ के वियोग में हमें दुःख और वेदना का अनुभव होता है ।’

तुम्हारे पिताजी धार्मिक-वृत्तिवाले थे । उनके हृदय में तुम्हारी आत्म-चिंता थी...वे तुम्हारा आत्म-हित चाहते थे । उनके समाधिमय जीवन के कारण उन्हें समाधिमय मरण प्राप्त हुआ ।

मृत्यु को सुधारने के पूर्व, जीवन को सुधारना होगा ।

परीक्षा की पूर्व-तैयारी किए बिना जो विद्यार्थी परीक्षा देने जाते हैं-उन्हें दिन में तारे ही दिखाई देते हैं ।

याद है न ? बचपन की बातें । परीक्षा के लिए कितने महिनों पूर्व तुम तैयारी चालू कर देते थे ?

अरे ! मृत्यु तो परीक्षा की घडी है...उसे सफल बनाना है...तो जीवन में प्रतिपल जागरूक रहना होगा । जीवन की इन अमूल्य-क्षणों की उपेक्षा कर...सफल-मृत्यु को पाने की इच्छा करना आग में से शीतलता पाने की इच्छा बराबर है ।

मृत्यु के दृश्य को देखने के बाद अब सावधान हो जाना है । ‘आज और इस घडी भी मृत्यु आ जाय तो भी मुझे किसी प्रकार का भय नहीं है ।’ ऐसी निर्भीकता हमें पवित्र और निर्मम जीवन जीकर प्राप्त कर लेने की है ।

बाह्य भौतिक पदार्थों के प्रति ममत्व का बंधन जितना अधिक गाढ होता है...मृत्यु के समय उतनी ही अधिक वेदना और पीडा का अनुभव होता है ।

...बाह्य-पदार्थों से ज्यों ज्यों मन का अलगाव बढ़ता जाता है...बाह्य संबंधों से ज्यों ज्यों ममता का बंधन तोड़ते जाते हैं...त्यों त्यों आत्म-प्रसन्नता और आत्मानंद की मस्ती दृढ़ होती जाती है ।

वास्तव में ममत्व ही गाढ बंधन है और उसके कारण ही हमें दुन्यवी पदार्थों में हर्ष-शोक का अनुभव होता है ।

★ सेठ करोडीमल अपनी दूकान पर बैठे हुए थे...अचानक दौडकर आए नौकर ने कहा-सेठजी ! सेठजी...अपने गोदाम में आग लग गई है ।

समाचार सुनते ही सेठजी का श्वास अद्धर हो गया । वे खडे हो गए और तेजी से चल पडे गोदाम की ओर...एक ही चिंता ‘**गोदाम नष्ट हो गया तो दस लाख का नुकसान हो जाएगा ।**’

सेठजी तेजी से आगे बढ़ रहे थे, तभी एक पुराना परिचित मित्र मिला । सेठजी को इस प्रकार दौडते देख उसने कहा, ‘सेठजी ! आप इतनी तेजी से क्यों दौड रहे हो ?’

‘अरे भाई ! क्या कहूँ ? गोदाम में आग लग गई है !’ सेठजीने धीमे स्वर से कहा ।

‘अरे ! आप उस गोदाम की चिंता क्यों करते है ? वह गोदाम तो दो दिन पूर्व ही आपके बच्चे ने बेच दिया है, मित्र ने कहा ।’

बस, मित्र के मुख से ये समाचार सुनते ही सेठजी प्रसन्न हो गए...और अब धीरे धीरे दुकान की ओर आगे बढ़ने लगे । अब उनके मुख पर लेश भी उदासीनता नहीं थी ।

परन्तु थोडी ही देर बाद सेठजी का बडा लडका दौडता हुआ आया । करोडीमल ने पूछा, ‘बेटा ! क्या हुआ ? क्यों भाग रहा है ?’

पिताजी ! ‘गोदाम में आग लग गई अतः पोलिस स्टेशन पर फोन करने जा रहा हूँ ।’ बेटे ने कहा ।

‘बेटा ! मैंने तो सुना है...वह गोदाम तू ने दो दिन पूर्व बेच दिया था ।’

पिताजी ! बात तो सच है । १० लाख में सौदा भी तय हो गया था...परन्तु ग्राहक ने कहा था ‘दो दिन बाद पुत्र के आने पर Final कर दूंगा...अब क्या करे ? नुकसान तो हमें ही हुआ है न ?’

पुत्र के मुख से ‘अपने’ गोदाम के समाचार सुनते ही सेठजी पुनः आकुल व्याकुल हो गए ।

इस घटना में सेठजी की मनःस्थिति का विश्लेषण करे ।

- १) ‘गोदाम जल गया’ समाचार सुनते ही सेठजी दुःखी हो गए ।
- २) गोदाम जल रहा है-‘किंतु बेच दिया है’ समाचार सुनते ही सेठजी शांत हो गए ।
- ३) ‘गोदाम बेचने की बात हो चुकी थी किंतु सौदा Final नहीं हुआ था’ समाचार सुनते ही सेठजी पुनः निराश हो गए ।

सेटजी के दिल में जो उतार-चढ़ाव आया-उसका कारण क्या ?

एक मात्र-ममता ।

'ममत्व के कारण ही आत्मा / पौद्गलिक वस्तु पर अपना स्वामित्व धारण करती हैं...और ममत्व के कारण ही उस वस्तु के विनाश अथवा वियोग में मनः संताप का अनुभव करती है ।

याद रखो ,

संसार के सभी पारिवारिक / कौटुम्बिक संबंध अस्थायी Temprary है । उन संबंधों को नित्य मानकर चलना , यही हमारी गंभीर भूल है ।

'पंचसूत्र' में कहा है-'संजोगो वियोगो कारणं' संयोग वियोग का कारण है । जहाँ जहाँ संयोग हैं-वहाँ वहाँ वियोग खडा है ।

संसार में सभी संबंध सांयोगिक हैं-अतः उन संबंधों के वियोग पर रोना-निरी मुखता ही है ।

समझदार इंसान वोही हैं जो हर घटना से कुछ न कुछ शबक सीख लेता है । घटना तो एक ही होती हैं...परन्तु दृष्टि की भिन्नता के कारण सब की कल्पनाएँ भिन्न भिन्न होती है । अतः मृत्यु के दृश्य में से हमें संसार की अनित्यता को अच्छी तरह से समझ लेना है ।

याद आ जाती हैं कवि की ये पंक्तियाँ

**'चुन चुन कंकड महल बनाया,
आप ही जाकर जंगल सोया ।
इस तन-धन की कौन बडाई,
देखत नयनों में मिट्टी मिलाई ॥'**

ओ अनंत के यात्री !

जिस महल का तू तन-तोड महेनत कर सर्जन कर रहा है-उस महल से तो कितने ही मील दूर तुझे सो जाना है...फिर ब्यर्थ का यह कष्ट क्यों उठा रहा है ?

मृत्यु से यही सीखना है-

Be careful सावधान बन !

मृत्यु के द्वारा हमें अमरता को पा लेना है...और इसी के लिए यह जीवन है ।

अन्तः साधना में प्रगतिशील बने रहो-इसी शुभेच्छा के साथ ।

३. देहः रोग का घर

प्रिय मुमुक्षु !

धर्मलाभ !

परमात्म-कृपा से आनंद है ।

कल ही तुम्हारे मित्र का पत्र मिला-जिससे पता चला कि **तुम्हें कैंसर हो गया है । कैंसर की दर्दभरी स्थिति में भी आत्म-समाधि कैसे बनी रहे ? इसके लिए तुमनें जो मार्गदर्शन चाहा है उसे जानकर मुझे प्रसन्नता हुई !**

संसार में दुःख, कष्ट व प्रतिकूलता किसके जीवन में नहीं हैं ? संसार मात्र दुःख से भरा हुआ है । जब तक आत्मा का मोक्ष नहीं होता है...जब तक आत्मा वेदनीय आदि कर्मों से सर्वथा मुक्त नहीं बनती हैं, तब तक इस संसार में आत्मा को शारीरिक पीडा, मानसिक पीडा या अन्य कोई प्रतिकूलता सहन करनी ही पडती है ।

जीवन में जो कुछ भी रोग, कष्ट या दुःख उत्पन्न होता हैं, उन सब का मूल तो अपनी ही आत्मा के द्वारा उपाजित अशुभ कर्म है । अशुभ कर्म के उदय बिना न तो किसी प्रकार की प्रतिकूलता का अनुभव होता है और न ही शरीर में किसी प्रकार की बीमारी उत्पन्न होती है ।

स्थूल दृष्टि से हमें लगता है कि कोई अन्य व्यक्ति हमें कष्ट दे रहा है...परंतु गंभीरता से सोचा जाय तो पता चलेगा कि हमारे कष्ट में दूसरी आत्मा तो निमित्त मात्र हैं, अपने कष्ट का मुख्य कारण तो अपनी ही आत्मा है ।

अपने अशुभ कर्म के उदय बिना इस दुनिया का एक भी व्यक्ति हमें दुःख देने में समर्थ नहीं है ।

कैंसर की इस दर्दनाक बीमारी में सर्व प्रथम तुम्हें यह स्वीकार करना होगा कि **यह दर्द मेरे ही कर्मों की पैदाश है ।**

इस जगत् में अन्य किसी भी वस्तु का लेन देन हो सकता है, परंतु कर्मों का संक्रमण संभव नहीं हैं ।

इस जगत् में आत्मा स्वयं ही कर्म की कर्ता हैं और उन कर्मों की भोक्ता भी स्वयं ही है । अपने बंधें हुए कर्मों की सजा हमें ही भुगतनी पडेगी-इस तथ्य को यदि हृदय से स्वीकार कर दिया जाय तो दर्द की अनुभूति में मानसिक फर्क अवश्य पड सकता है ।

जब हम अपने दुःख का दोषारोपण दूसरों के ऊपर करते हैं तब हमें

दूसरो के ऊपर गुस्सा आता हैं और हमारी मानसिक पीडा स्वतः बढ जाती हैं...परन्तु जब अपने नुकसान या दुःख में अपने आपको ही कारण रूप में स्वीकार कर लेते हैं, तब हमें उस दुःख की अनुभूति कम होने लगती है।

अपना कांच का गिलास दूसरे के हाथ से टूट जाय तो तुरंत गुस्सा आ जाता है और दूसरों को डांटने लग जाते हैं, परन्तु वही गिलास अपने ही हाथों से टूट जाय तो मौन रहकर उस हानि को सहन कर लेते है।

बस, इसी प्रकार अपने शरीर में जो भी रोग पैदा होते है, उन सबका मूल कारण अपनी ही आत्मा है।

जानबुझकर अथवा अनजान में हमारी आत्मा ने जिन कर्मों का बंध किया है, उन कर्मों की सजा को सहन किए बिना छुटकारा नहीं है।

पूर्वकृत अशुभ कर्म के उदय के अनुसार धर्मों के जीवन में भी कष्ट आते है और अधर्मों के जीवन में भी।

धर्मों व अधर्मों आत्मा में यही फर्क है कि अशुभ कर्म के उदय से शरीर में रोग पैदा होने पर अधर्मों आत्मा 'हाय ! हाय !' करती है। आर्तध्यान करती हैं और फलस्वरूप नए कर्मों का बंध करती हैं, जब कि धर्मों आत्मा अशुभ कर्म के उदय से आए हुए रोग आदि में समता व समाधि रखकर अत्यकाल में ही उन कर्मों के बंधन से मुक्त बन जाती है।

तुम तो वीतराग परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट कर्म विज्ञान के अच्छे ज्ञाता हो। बस, उस ज्ञान का अभी प्रयोगात्मक लाभ उठाना है। **ज्ञान का वास्तविक फल यही है कि विपरीत परिस्थिति में भी हम अपनी समाधि बनाए रखें।**

अनंत ज्ञानी महापुरुषों ने तो शरीर को रोग का घर कहा है। शरीर के साथ तो रोग जुड़े हुए है।

भर्तृहरि ने भी कहा हैं- 'देहे रोग-भयम्'।

देह के साथ रोग का भय जुडा हुआ है।

देह में रोग उत्पन्न न हो-इसे अपना पुण्योदय समझना चाहिये। **'देह में रोग उत्पन्न हो'-इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।**

'कैंसर की बिमारी असह्य होती हैं उसमें अत्यंत ही वेदना का अनुभव होता हैं'-यह बिल्कुल सत्य बात हैं, किंतु जिन वचनों का अमृत पान कर हम अपने मन को रोग के आघात से अलिप्त रख सकते है।

निकट भूतकाल में ही अपने समुदाय के दो तेजस्वी रत्न परम पूज्य **पंन्यास प्रवर श्री कांतिविजयजी गणिवर्य** और परम पूज्य **पंन्यास प्रवर श्री**

पद्मविजयजी गणिवर्य को कैंसर की भयंकर बीमारी उत्पन्न हुई थी परन्तु उस रोग में भी उन महापुरुषों की समता व समाधि महान् आदर्श रूप थी। कैंसर की भयंकर बिमारी में भी अनशन (सतत उपवास द्वारा मृत्यु का सहर्ष स्वागत) की कामना-कोई सामान्य बात नहीं है।

भयंकर वेदना में भी किसी भी प्रकार का आर्तध्यान किए बिना सतत समता पूर्वक अरिहंत आदि के जाप में लीन रहना-कोई सामान्य घटना नहीं है।

पाप के उदय से शरीर में रोग उत्पन्न होता हैं...परन्तु उस रोग में समाधि तो पुण्य के उदय से ही प्राप्त होती है।

सचमुच, रोग में भी समता की साधना करनेवाला तो अपने पाप के उदय को भी पुण्य में बदल देता है। पाप के उदय में भी वह पुण्य ही कमा रहा है।

धर्मों आत्मा को रोग में उदय पाप का होता हैं परन्तु बंध तो पुण्य का ही होता हैं, क्योंकि वह आत्मा भयंकर वेदना में भी समता धारण कर कर्म को ही तोडती है।

कर्म का प्रहार शरीर पर होता हैं क्योंकि कर्म के उदय से शरीर रोगी बनता हैं, परन्तु धर्म व समाधि का सीधा प्रहार कर्म पर होता है।

दुःख व वेदना में समाधि रखने से कर्म की शक्ति क्षीण होती हैं और आत्मा की शक्ति बढती है।

कर्म, शरीर पर प्रहार करता है जबकि धर्म कर्म पर प्रहार कर उसे एकदम पंगु बना देता हैं, यावत् उसे जडमूल से हटाकर दूर फेंक देता है।

अपने चित्त को समाधिमय बनाने के लिए सनतकुमार महामुनि के पवित्र जीवन चरित्र को अपनी आंख के सामने अवश्य लेना।

★ छह खंड के विशाल साम्राज्य और दिव्य भोग सामग्री का परित्याग कर चारित्र के पथ पर गतिमान बने उन महामुनि के शरीर में १६ भयंकर रोग उत्पन्न हो चूके थे। ७००-७०० वर्ष तक उन्होंने उस पीडा को अत्यंत ही समता व समाधि पूर्वक सहन किया था। रोगों की भयंकर वेदना में भी दीनता का नामोनिशान नहीं था।

एक बार देवराज इन्द्र ने उनकी सहनशीलता की भर पेट प्रशंसा की। उस प्रशंसा को सहन करने में असमर्थ दो देवता सनतकुमार महामुनि की परीक्षा के लिए वैद्य के रूप में आए।

उन वैद्यों ने शारीरिक चिकित्सा करने के लिए महामुनि से प्रार्थना की,

तब महामुनि ने कहा, 'मुझे देहरोग नहीं, आत्मा को लगा कर्म-रोग अधिक पीडाकारी लग रहा है-यदि उस कर्मरोग को मिटाने में तुम समर्थ हो तो मिटा सकोगें। बाकी देह रोग की मुझे परवाह नहीं है... देह रोग को तो मैं भी मिटा सकता हूँ।' इतना कहकर उन्होंने अपने मुह में से थोड़ा सा थूंक निकाला और उसे हाथ पर लगा दिया। देखते ही देखते उस हाथ की चमडी पूर्ववत्-कंचन वर्णी हो गई। यह दृश्य देखते ही वैद्य के रूप में रहे देवता आश्चर्य चकित हो गए। मुनिवर के चरणों में भावपूर्वक वंदन कर बोले, 'प्रभो ! कर्म रोग को मिटाने की हमारी कोई ताकत नहीं है-वह रोग तो आप ही मिटा सकते हैं और आप में उस रोग को मिटाने का सामर्थ्य है।

देवताओं को इन्द्र के वचन में विश्वास आ गया। वे पुनः देवलोक में चले गए।

दुःख, कष्ट व रोग को समतापूर्वक सहन करने से अपने कर्मों की निर्जरा होती है।

अपनी इतनी ताकत नहीं है कि सामने चलकर कष्टों को मौल ले। भगवान महावीर प्रभु तो कर्मों को खपाने के लिए स्वेच्छा से अनार्य देश में गए थे।

बिना बुलाए भी जब रोग आ ही गया है तो उसके द्रव्योपचार के साथ साथ भावोपचार अवश्य करना चाहियें।

हमेंशा याद रखें-**देह के भयंकर रोग से भी आत्मा को लगा कर्म का रोग अत्यंत भयंकर है।** जब तक आत्मा को कर्म का रोग लगा है तभी तक देह में रोगोत्पत्ति की संभावना है, जिस दिन आत्मा के रोग नष्ट हो जाएंगे-उसी के साथ देह भी रोग मुक्त बन जाएगा।

सचमुच, देह के रोग का मूल भी आत्मा को लगा कर्म का रोग ही है। तुम तो बहुत समझदार हो, तुम्हारे लिए इतना ईशारा भी पर्याप्त होगा।

हिंसा से भी राग का पाप अधिक खतरनाक है।

★ हिंसा से एक बार पाप होता है,
जब कि राग बार बार पाप करने
के लिए प्रेरित करता रहता है।

४. चिंता से असमाधि चिंतन से समाधि

प्रिय मुमुक्षु !

धर्मलाभ !

परमात्मा की असीम कृपा से आनंद है। संयम यात्रा, स्वाध्याय-यात्रा सानंद चल रही है। कल ही तुम्हारा पत्र मिला और ज्ञात हुआ कि तुम्हारे शरीर में केंसर भयंकर बीमारी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। उस रोग के कारण तुम अत्यंत बेचैन बन गए हो।

जरा सोचे ! आर्तध्यान करने से, निरर्थक चिंता करने से अथवा आकुल-व्याकुल बन जाने से तो यह बीमारी कम हो जाने वाली नहीं। हाँ ! काया, रोग ग्रस्त बन जाने पर भी यदि शुभ विचारों के द्वारा मन को स्वस्थ रखने का प्रयास किया जाय तो वेदना की अनुभूति में काफी अंतर आ सकता है।

याद रखें ! मन की स्वस्थता में काया रोग-ग्रस्त हो तो भी दुःखानुभूति कम होती है, जबकि मन की अस्वस्थता में काया, सामान्य-रोग-ग्रस्त हो तो भी दुःखानुभूति अत्यधिक बढ़ जाती है।

काया को स्वस्थ रखना अपने हाथ की बात नहीं है, निकाचित कर्म का तीव्र उदय हो तो अनेक प्रयत्न करने पर भी व्यक्ति रोग मुक्त नहीं बन पाता है, जब कि मन को स्वस्थ रखना अपने अधीन है।

अपनी आत्मा को समझाते हुए विचार करें कि 'हे आत्मन् !'

आज यह रोग पैदा हुआ है, उसका मुख्य कारण तीव्र अज्ञाता वेदनीय कर्म का उदय है और इस कर्म को तुमने ही बांधा है। गत भवों में प्रभु-आज्ञा से निरपेक्ष बनकर, स्वैच्छिक प्रवृत्ति करके जो अशुभ कर्म बांधा था, वह कर्म आज उदय में आया है। यदि कर्म बांधते समय तू सावधान रहा होता और इस कर्म का बंध नहीं किया होता तो यह कर्म तुझे पीडा नहीं देता। परंतु उस समय तो तुमने यह कर्म हंसते-हंसते बांधा तो फिर उस कर्म के उदय में इतना दीन बनने की क्या आवश्यकता है ? यदि कर्म बांधते समय सिंहवृत्ति रखी है तो फिर उस कर्म के उदय में तू सियार क्यों बन रहा है ! तुझे तो यह कर्म हंसते हंसते ही सहन करना चाहियें। जब ऋण किया

ही है तो अवसर आने पर उस ऋण को चुकाने में पीछे नहीं हटना चाहियें ।

इस जगत् में प्राणी मात्र को जो सुख-दुःख मिलता है, वह उसी के द्वारा किए शुभ-अशुभ कर्म का फल है । यदि शुभ कर्म किया होता तो शुभ फल मिलता ।

अशुभ कर्म का बंध किया है तो फिर शुभ फल की हम आशा कैसे रख सकते हैं ? **'बोए बीज बबूल का, आम कहां से होय ?'** याद रखना, बबूल के बीज बोएंगे तो कांटे ही मिलने वाले हैं और आम के बीज बोएंगे तो आम ही मिलने वाले हैं । प्रकृति का यह न्याय है, उस न्याय के अनुसार शुभ-अशुभ कर्म की सजा स्वीकार किए बिना छुटकारा नहीं है । उस न्याय का स्वीकार करेंगे तो हमें अशाता के उदय में भी मानसिक-पीडा की अनुभूति कम होगी और उस न्याय को नहीं स्वीकार करेंगे तो उसकी पीडा का अनुभव अधिक हुए बिना नहीं रहेगा ।

अशाता वेदनीय कर्म उदय में आया है तो उस कर्म को समता पूर्वक भोग लेना ही श्रेष्ठ है । कर्म उदय में आकर, अपना फल दिखलाकर नष्ट हो जाने वाला है, यदि उस समय समता रखेंगे तो नए कर्म का बंध नहीं होगा और उस कर्म की मर्यादित सजा से मुक्त हो सकेंगे । यदि हाय ! हाय ! करेंगे तो भी उस कर्म की सजा तो भुगतनी ही पड़ेगी, बल्कि इसके साथ ही नए-नए कर्मों का भी बंध होगा । ओहो ! यह तो घाटे का सौदा होगा । पांच रुपए के नुकसान से काम चल सकता हो वहां सौ रुपए का नुकसान करना, सिर्फ मुखता ही है । वास्तव में देखा जाय तो अशाता के उदय में समता रखी जाय तो कोई नुकसान नहीं है, बल्कि एकांततः फायदा है, क्योंकि अशाता के उदय में समता रखने से अशुभ कर्म, अल्प फल देकर नष्ट हो जाएगा, जबकि आर्त ध्यान करने से तो नए अशुभकर्मों का ही तीव्र बंध होगा ।

आत्मन् ! जरा विचार कर, अशाता के उदय में करुण रुदन करने से यह कर्म नष्ट हो जानेवाला नहीं है, जबकि अशाता के उदय में रोने से तो नए तीव्र कर्म का ऐसा बंध होगा, जिससे छुटकारा पाना अत्यंत ही कठिन हो जाएगा ।

★ अनाथी मुनि ने गृहस्थावस्था में शारीरिक पीडा में भयंकर करुण चित्कारों की थी, परंतु उनके स्वजन-संबंधी भी उस पीडा में भागीदार नहीं बन सके थे, परंतु जब उन्होंने अरिहंत आदि की शरणागति का स्वीकार किया तो

एक ही रात्रि में उनकी पीडा शांत हो गई और वे दूसरे दिन ही संयम मार्ग के पथिक बन गए ।

'रोग जाए जो आजनी राते,

हुं संयम लेऊं प्रभाते ।'

ये पंक्तियां याद हैं न ?

हे आत्मन् ! भौतिक सुख तो आत्मा को ललचाने वाला है । वह सुख तो आत्मा को सन्मार्ग से च्युत करने वाला है । उस सुख का भरोसा करने जैसा नहीं है । परन्तु दुःख तो उपकारक है । **सुख तो प्रभु को भूलाता है, जब कि दुःख में प्रभु की याद विशेष बनी रहती है ।**

प्रभु का शासन हमें दुःख से नहीं, पाप से घबराने की बात करता है । **दुःख से घबराना कायरता है, जब कि पाप से घबराना बहादुरी है ।**

इस दुःख में प्रभु की शरणागति का स्वीकार करोगे तो वेदना भी तुम्हारे लिए वरदान स्वरूप बन जाएगी ।

इस जगत् में कर्म से धर्म की शक्ति महान् है । **कर्म में पीडा देने की ताकत है तो धर्म में समाधि देने की ताकत रही हुई है ।** जो व्यक्ति धर्म की शरणागति का स्वीकार करता है, उसके ऊपर कर्म की शक्ति काम नहीं लगती है ।

कर्म ईंधन है तो धर्म चिनगारी है । लाखों टन लकड़ियों के ढेर को आग की चिनगारी भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार धर्म की चिनगारी अनंत कर्म राशि को समाप्त कर देने में सक्षम है ।

भले ही शारीरिक वेदना में तुम दीर्घ तपश्चर्या करने में अक्षम हो किंतु इस वेदना में भी प्रभु का ध्यान तो कर सकते हो न ? प्रभु के ध्यान में भी कर्म क्षय करने की अपूर्व शक्ति रही हुई है ।

अपने मन से दुष्कृतों की गर्हा करे, जगत् में हो रहे समस्त सुकृतों की अनुमोदना करें और अरिहंत आदि की शरणागति का स्वीकार करे ।

भले ही अरिहंत परमात्मा साक्षात् विद्यमान नहीं है । भले ही सिद्ध भगवंत सात राजलोक दूर हैं, परंतु भक्तत्मा भक्ति के द्वारा नाम निक्षेप द्वारा परमात्मा को अपने हृदय मंदिर में प्रतिष्ठित कर सकता है ।'

'नाम ही तुम ताप हरत है'

‘नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति’

‘प्रभु नाम की औषधि, खरे भाव से खाय,
रोग शोक आवे नहीं, सवि संकट मिट जाय ।’

इत्यादि पंक्तियों से प्रभु नाम-स्मरण की महिमा का स्पष्ट ख्याल आ जाता है। भावपूर्वक एवं श्रद्धा पूर्वक प्रभु के नाम का स्मरण करने से रोग-शोक, आधि, व्याधि, उपाधि आदि सभी समस्याएँ नष्ट हो जाती हैं। प्रभु नाम स्मरण की महिमा अपरंपार है।

यह काया तो एक दिन नष्ट होने ही वाली है। काया तो रोगों का घर है। इस काया को पुष्ट करने के लिए लाख प्रयत्न किए जाय फिर भी एक दिन तो यह नष्ट हो ही जाने वाली है।

‘तू तो काया से भिन्न अजर-अमर है। काया के नष्ट हो जाने से तेरा सर्वस्व लूट जानेवाला नहीं है।’

काया को कितना ही सम्हालो, एक दिन नष्ट होगी ही।

यह मानव देह तो मोक्ष की साधना के लिए मिला है। जितने अंश में मोक्ष की साधना हो सके, उतने अंश में उसकी सेवा करना-इसको सम्हालना उचित है। काया की ममता तो दुर्गति में धकेलनेवाली हैं। अतः तू धैर्य धारण कर और आए हुए रोगों को समता पूर्वक सहन कर।

हे आत्मन् ! इस संसार में काया के साथ शाश्वत संबंध नहीं है। एक न एक दिन तो इस काया को छोड़कर जाना है तो फिर तू इतना आकुल व्याकुल क्यों हो रहा है ?

हे आत्मन् ! इस जगत् में जितने भी संबंधी हैं वे इसी जीवन के हैं। इस जीवन के नष्ट हो जाने के साथ ही वे संबंध नष्ट हो जाने वाले हैं, अतः तू उनकी व्यर्थ ही चिंता कर रहा है ? आत्मा के सच्चे संबंधी तो पंच परमेष्ठी भगवंत हैं। वे ही अपने सच्चे हितैषी हैं, अतः उन्हीं के प्रति समर्पण भाव धारण कर।

हे आत्मन् ! तू अरिहंत आदि के प्रति पूर्ण समर्पित बन जा। अन्य किसी का अवलंबन लेने की आवश्यकता नहीं है।

५. गुर्वाज्ञापालन

मोक्षाभिलाषी मुमुक्षु !

हार्दिक-धर्मलाभ !

परमात्मा की असीम कृपा से आनंद है। कल ही तुम्हारा पत्र मिला। पत्र में हित-शिक्षा की जो मांग की उसके संदर्भ में आज ही विहार-यात्रा दरम्यान जो चिंतन किया, उसे लिख रहा हूँ।

महोपाध्याय श्रीमद् उमास्वतिजी म. ने ‘तत्त्वार्थ-सूत्र’ में मुमुक्षु आत्मा को हित-संदेश देते हुए बहुत ही सुंदर बात की हैं-

‘मार्गाच्यवन-निर्जरार्थ परिषोढव्या परिषहाः’

जिनेश्वर भगवंत के द्वारा निर्दिष्ट रत्नत्रयी की आराधना स्वरूप ‘मोक्ष मार्ग में स्थिर रहने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए परिषह सहन करने चाहिये।’

ये परिषह दो प्रकार से सहन करने के होते हैं-

- 1) क्षुधा आदि परिषह आ पडे तो उसे सहन करना। जैसे-विहार करते हुए भूख-प्यास लगी हो तो उस भूख-प्यास को सहन कर लेना, किंतु परमात्मा की आज्ञा से विरुद्ध सचित या दोषित भिक्षा आदि ग्रहण नहीं करना।
- 2) क्षुधा आदि परिषह उपस्थित न हो तो उन्हें स्वयं खडे करना ! जैसे-गांव में निर्दोष भिक्षा सुलभ हैं, फिर भी कर्म क्षय के लिए जानबुझकर स्वेच्छा से उपवास आदि कर उस भूख-प्यास को सहन करना।

परमात्मा ने इन दोनों प्रकार से परिषहों को सहन करने की आज्ञा फरमाई हैं, परंतु उनमें ‘स्त्री-परिषह’ के लिए एक अपवाद है।

‘स्त्री-परिषह’ आ पडे तो उसे सत्त्वपूर्वक सहन करना किंतु उसे सामने जाकर खडा नहीं करना।

हाँ ! इस अवसर्पिणी काल में पंचम काल में ऐसे महापुरुष पैदा हुए, जिनका नाम ८४-८४ चोबीसी तक अमर रहेगा, ऐसे स्थूलभद्र स्वामी, जिन्होंने सामने चलकर ‘स्त्री-परिषह’ खडा किया था। जिस वेश्या के वहां वे १२-१२ वर्ष तक रहे थे, उसी वेश्या को प्रतिबोध देने के लिए वे उस कोशा वेश्या के वहां गुर्वाज्ञा प्राप्तकर चातुर्मास रहे।

पूर्व परिचय, एकांत वास, वर्षा-ऋतु, षड्रस भोजन, यौवन वय आदि आदि कामोत्तेजक वातावरण के बीच रहकर भी स्थूलभद्र महामुनि के रोम में भी

विकार की वासना उत्पन्न न हो पाई, यह बहुत बड़ा आश्चर्य ही है।

ऐसे स्थूलभद्र एक ही हुए हैं, जिन्होंने काम के घर में प्रवेश कर काम का ही नाश किया था।

उनके गुरुदेव भी परम ज्ञानी थे, वे उनकी योग्यता व आने वाले परिणाम को अच्छी तरह से जानते थे, इसी कारण जिस समय स्थूलभद्र ने कोशा वेश्या के वहां चातुर्मास रहने के लिए आज्ञा मांगी, उनके गुरुदेव ने कुछ भी आनाकानी किए बिना, उन्हें तत्क्षण अनुमति दे दी।

जबकि उन्हीं गुरुदेव ने सिंह गुफावासी मुनि को कोशा वेश्या के वहां चातुर्मास रहने के लिए अनुमति प्रदान नहीं की।

गुर्वाज्ञा का भंग कर भी वे कोशा वेश्या के वहां चातुर्मास रहने के लिए तैयार हुए तो कोशा वेश्या की चित्र शाला में रहे विविध कामासन आदि को देखकर उनका मन विचलित हो उठा!

चार-चार मास तक क्षुधा परिषह को हंसते मुख सहन करनेवाले कोशा वेश्या के 'स्त्री परिषह' के आगे हार गए।

सारांश यह है कि 'स्त्री परिषह' को कभी सामने चलकर खड़ा नहीं करना। हाँ! परिषह आ जाय तो उसे सहन कर लेना, लेकिन सामने चलकर खड़ा नहीं करना।

खेत में पैदा हुए धान्य की सुरक्षा के लिए किसान उस खेत के चारों ओर कांटों की बाड़ बनाता है, परंतु यदि उसी खेत में आम के फलों से लदे आम के वृक्ष हो तो वह किसान मात्र कांटों की बाड़ ही नहीं बनता है; बल्कि उन आमवृक्षों की सुरक्षा के लिए चोकीदार भी रखता है।

वस्तु जितनी अधिक मूल्यवान होगी, उसकी सुरक्षा के लिए उतना ही अधिक प्रबंध करना होगा। बस, इसी प्रकार पांच व्रतों में यह चोथा 'ब्रह्मचर्य-व्रत' सबसे अधिक कीमती है, अतः उस व्रत की सुरक्षा के लिए ज्ञानियों ने एक नहीं, नौ-नौ बाड़े बतलाई है।

जो मुमुक्षु इन नौ बाड़ों का अच्छी तरह से पालन करता है, उसका ब्रह्मचर्य व्रत पूर्णतया सुरक्षित व बेदाग रहता है, किंतु जो मुमुक्षु इन बाड़ों के पालन में उपेक्षा करता है, उसका मन से, अथवा वचन से अथवा काया से शील-भंग हुए बिना नहीं रहता है।

६. ममत्व छोड़े

प्रिय मुमुक्षु !

मेरी अंतर की शुभ कामना है कि संयम-ग्रहण की तेरी अभिलाषा शीघ्र पूर्ण हो ! तू विशुद्ध संयम धर्म का पालन कर शीघ्र ही मोक्षगामी बन, यही मेरी मंगल कामना है।

एक लडकी की जब शादी होती है, तब वह अपने पिता के घर से श्वसुर के घर जाती है। पिता के बजाय अब पति / श्वसुर का घर, उसका अपना हो जाता है। पिता के घर में अधिक अनुकूलताएँ हो और पति / श्वसुर के घर में कम सुविधाएँ हो, ऐसी दशा में उसे उन परिस्थितियों के बीच अपने आपको ढाल देना पडता है। विवाह के बाद लडकी को अपने नए संबंधों के बीच अपने आप को Adjust होना पडता है, परंतु इसका मतलब यह नहीं कि उसके पिता-माता-भाई- भोजाई आदि के संबंध टूट जाते हैं। घर छोड़ने पर भी उसके वे संबंध तो यथावत् ही रहते हैं। परंतु दीक्षा की बात अलग है, यहां तो दीक्षा लेने वाला अपने समस्त सांसारिक संबंधों को तिलांजलि देता है। घर छोड़ देने के बाद माता-पिता-भाई-बहिन-दुकान-मकान-फर्नीचर-वस्त्र- अलंकार तथा धन आदि के साथ सारा संबंध विच्छेद हो जाता है।

संसार में जहां सर्वत्र हर व्यक्ति-हर पदार्थ के साथ 'ममत्व' जुड़ा होता है-मेरा भाई, मेरी बहिन, मेरे पिता, मेरी माता, मेरी दुकान, मेरा मकान...अब उन सब संबंधों के बीच रहे- मेरा व मेरेपन को निकाल देने का होता है।

दीक्षा लेने के बाद भी वे सभी व्यक्ति-वस्तुएँ मौजूद हैं, लेकिन उनमें रहा 'मेरापन' निकल गया होता है।

दीक्षा का यही अर्थ है-संसार में रहे व्यक्ति व वस्तु में से 'मेरेपन' को निकाल देना।

जिन पुण्यात्मा ने यह 'मेरापन' निकाल दिया, वह सच्चा साधु हैं, दीक्षित है।

साधु का पवित्र वेष स्वीकार करने के बाद भी यदि हृदय में से यह 'मेरापन' नहीं जाता हो तो उस वेष परिवर्तन का कोई अर्थ नहीं है।

गृहस्थ जीवन में ममत्व का सबसे बड़ा बंधन होता है, जब कि साधु जीवन में इस ममत्व के बंधन को तोड़ दिया जाता है।

नूतन दीक्षित का अब अपना नया परिवार होता है। 'गुरु' ही उसके

लिए माता हैं, पिता हैं, सर्वस्व हैं। गुरु बंधु ही उसके लिए भाई है।

दूध में जिस प्रकार शक्कर घूल-मिल जाती है, उसी प्रकार दीक्षित अपने-गुरु बंधुओं के साथ हिलमिल जाता है।

दो-चार महिने के बालक को जैसे माँ की गोद अधिक प्यारी होती है। डनलप की गद्दी, सीधी व सरल हो, माँ की गोद ऊँची-नीची हो, फिर भी बालक को माँ की गोद ही प्यारी लगती है। बालक माँ की गोद में सिमट जाता है।

बस, नूतन दीक्षित मुनि के लिए गुरु ही माँ की गोद है। उसे अपना सर्वस्व गुरु में समा देने का है। गुरु को छोड़ उसका स्वतंत्र अपना कोई अस्तित्व नहीं।

गुरु की आज्ञा ही उसके लिए सर्वोपरि होती है।

‘महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म. ने स्वरचित ‘गुरुतत्व विनिश्चय’ ग्रंथ के प्रारंभ में ही गुरुतत्व की महिमा का अपूर्वगान करते हुए लिखा है-

‘गुरु आणाए मुखो, गुरु आणाए अड्ड सिद्धिओ ।’

गुर्वाज्ञा के पालन से भौतिक व आध्यात्मिक सर्वोच्च सुखों की...लब्धियों की प्राप्ति होती है।

जगत् में ऐसी कोई लब्धि, शक्ति या उपलब्धि नहीं हैं, जो गुरु की आज्ञा के पालन से शिष्य को प्राप्त नहीं होती हो, अर्थात् गुर्वाज्ञा पालन से सब कुछ मिलता है।

हे मुमुक्षु ! तेरे अन्तर मन में आध्यात्मिक जगत् की सर्वोच्च भूमिका पाने की तीव्र पिपासा है...उन सबका मूल ‘गुर्वाज्ञा पालन’ है...इस सत्य को तू सदा याद रखना, अपने हृदय की दिवाल पर खुदवा देना।

गुर्वाज्ञा भंजकों का कुलवालक आदि मुनियों की तरह अत्यधिक घोर पतन होता है।

जिस प्रकार स्वस्थ व्यक्ति को शक्कर हमेंशा मीठी लगती है, उसी प्रकार मुमुक्षु आत्मा को गुरु की आज्ञा हमेंशा मीठी लगनी चाहिये।

प्रशमरतिकार ने मुमुक्षु को हित शिक्षा देते हुए कहा है-

‘गुर्वायत्ता यस्माच्छास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि ।

तस्माद् गुर्वाराधनपरेण हितकांक्षिणा भाव्यम् ॥’

अर्थ : समस्त शास्त्रों का आरंभ गुरु के अधीन रहा हुआ है, अतः हितकांक्षी मुमुक्षु को सदैव गुरु आज्ञा के आराधना में तत्पर रहना चाहिये।

गुरु के मुख से निकले हुए कठोर शब्दों को, मलयाचल के चंदनवन से आए हुए शीतल पवन की भांति समझाना चाहिये।

‘गुरु शुश्रुषा फल श्रुतज्ञानम्’ गुरु की सेवा का फल श्रुतज्ञान की प्राप्ति है।

७. प्रमाद न करे

प्रिय मुमुक्षु !

हार्दिक-धर्मलाभ !

बम्बई से मालेगांव तक की विहार-यात्रा दरम्यान लगभग प्रतिदिन एक Accident दुर्घटना देखी। ड्राइवर की एक छोटी सी भूल कई यात्रिकों के लिए मौत का कारण बन जाती है। घंटों तक व्यवस्थित रूप से गाडी चलाने वाला ड्राइवर एक छोटीसी भूल करता है और...उसके परिणाम स्वरूप अपने लक्ष्य स्थल पर पहुंचने के बजाय कहीं ऊपर ही पहुंच जाता है।

आध्यात्मिक जगत् में यह बात बहुत ही महत्व की है। संयम जीवन का लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति है। अनादि काल से आत्मा पर लगे हुए कर्मों के जटिल बंधनों को शिथिल करने का काम हमें करना है। आज तक हमने जिस आत्मिक सुख की अनुभूति नहीं की, उसकी अनुभूति के लिए हमें यह जीवन मिला है।

असंख्य सम्यग्दृष्टि देवता भी जिस संयम की प्राप्ति के लिए मानव भव के लिए तरसते हैं, वह देव दुर्लभ मानव जन्म और संयम हमें प्राप्त हो गया है।

याद रखना, संयम का यह पवित्र वेष स्वीकार करने मात्र से ही हमारा कल्याण नहीं है।

सच तो यह है कि **इस पवित्र वेष के स्वीकार के साथ हमारी आध्यात्मिक साधना का शुभारंभ हुआ है, मंजिल तो अभी काफी दूर है।**

‘संयम’ जीवन की स्वीकृति के बाद हमें प्रतिपल जागरूक रहना है। **‘संयम’** जीवन का कट्टर दुश्मन है-प्रमाद ! यह **‘प्रमाद’** हमें संयम पालन में शिथिल बनाता है। यह **‘प्रमाद’** हमारे जीवन में घूसने न पाए, इसके लिए खूब जागरूक रहना है।

‘चौदह पूर्वधर महर्षि भी ‘प्रमाद’ के वशीभूत होकर नरक व निमोद में चले गए हैं’ तो हमारे जैसे अल्पतम ज्ञानियों की तो क्या हालत होगी ?

जीवन में-प्रमाद की Entry होने के साथ ही व्यक्ति **‘सुखशील’** बनता है। संयम की क्रियाएँ उसे कष्टरूप लगती हैं और संसारी जीवों के भौतिक सुख

का उसे आकर्षण होता है ।’

अनंतज्ञानी तारक तीर्थकर परमात्माओं ने जो क्रिया-अनुष्ठान, संयम जीवन की दैनिक क्रियाएँ मोक्ष के साधन रूप बतलाई हैं, उन क्रियाओं में अब आनंद नहीं आता हैं, वे क्रियाएँ भारभूत लगती हैं और वह विषय, निंदा, निद्रा व विकथा के जाल में फंस जाता है ।

इसी प्रमाद के कारण अनेक आत्माएँ ‘संयम’ जीवन से भ्रष्ट बनी है । संयम के कट्टर दुश्मन ‘प्रमाद’ से बचने के लिए आत्म-जागृति अनिवार्य है ।

निरंतर जिनागमों का पुनः पुनः स्वाध्याय, परिशीलन व अनुप्रेक्षा करने से हम प्रमाद के पाप से बच सकते हैं ।

नींव यदि कमजोर हैं तो महल को धराशायी होते देर नहीं लगती है ।

जड़ यदि काट ली गई तो वृक्ष को सूखते देर नहीं लगती हैं ।

बस, इसी प्रकार संयम जीवन में ‘प्रमाद’ घूस गया तो संयम-जीवन से भ्रष्ट होते देर नहीं लगती है ।

लोकोत्तर शासन में संयम जीवन की एक-एक क्रियाएँ कितनी अधिक फलदायी हैं ? उस पर सतत विचार किया जाय तो प्रमाद के पाप से बचा जा सकता है ।

‘स्वाध्याय यह तो साधु जीवन का प्राण है । स्वाध्याय रहित साधुजीवन की तो कल्पना ही नहीं कर सकते हैं । स्वाध्याय से ही संयम जीवन के उत्कृष्ट आनंद की अनुभूति कर सकते हैं ।

‘वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा रूप पांच प्रकार के स्वाध्याय में लयलीन साधक के जीवन में ‘प्रमाद’ घूस नहीं पाता है ।

८. वैराग्य—ज्योत बुझने न पाए !!!

प्रिय मुमुक्षु !

मुझे यह जानकर अत्यंत ही खुशी हो रही है कि महान् पुण्योदय से तेरी आत्मा में वैराग्य का दीप प्रज्वलित हुआ है ।

वैराग्य का वास्तविक अर्थ हैं-विषय-सुखों के प्रति अरुचि । वैषयिक सुखों में हेय बुद्धि ।

सारी दुनिया भौतिक सुखों के पीछे पागल हैं, उन सुखों की प्राप्ति के

लिए मानवी रात-दिन दौड रहा है । सद्भाग्य से वे सुख मिल गए तो उन्हें मजे से भोगता हैं-परंतु जिस आत्मा में वैराग्य की ज्योति प्रगट हो गई हो, उसे वे सारे सुख नश्वर, तुच्छ व त्याज्य लगते हैं । अज्ञानी आत्मा उन क्षणिक सुखों में पागल बनती हैं, परंतु जो ज्ञानी हैं, उन्हें तो उन सुखों का लेश भी आकर्षण नहीं होता है ।

अनंतज्ञानी तारक तीर्थकर परमात्माओं का जन्म राजकुल में होता है । जन्म से ही उन्हें सर्वोच्च कोटि के भौतिक सुख प्राप्त होते हैं...परंतु उनकी अंतरात्मा में ‘वैराग्य-दीप’ प्रज्वलित होने के कारण वे उन सुखों में लेश भी आसक्त नहीं बनते हैं ।

भोगावली कर्मों का एक जटिलबंधन ही उन्हें संसार में जकड़े रखता हैं...जिस दिन वे भोगावली कर्म क्षीण हो जाते हैं, वे एक क्षण की भी देरी किए बिना उन समस्त सुखों का त्याग कर देते हैं ।

एक बार उन सुखों का त्याग करने के बाद...चाहे जितने प्रलोभन आ जाय वे उन सुखों की लेश भी इच्छा नहीं करनी चाहिये ।

जिस प्रकार सर्प अपने शरीर पर से काचली उतारने के बाद उसकी ओर कभी नजर भी नहीं करता हैं, बस, इसी प्रकार जिस आत्मा के भीतर वैराग्य का दीप प्रज्वलित हुआ हो, वह आत्मा संसार के क्षणिक सुखों का त्याग करने के बाद पुनः उन्हें पाने की लेश भी इच्छा नहीं करती है ।

वैराग्य का फल त्याग है । सच्चा वैराग्य त्याग को पैदा किए बिना नहीं रहता है ।

आत्मा में प्रगट हुई वैराग्य की ज्योत को जलती हुई रखने के लिए अशुभ निमित्तों से बचना अनिवार्य है ।

कर्म के क्षय से उत्पन्न हुए गुण, सदा काल आत्मा के साथ रहते हैं, जब कि कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न गुण दीर्घकाल तक रहेंगे ही, ऐसी कोई गारंटी नहीं है । अशुभ निमित्त मिलते ही वे गुण वापस जा भी सकते हैं ।

★ स्थनेमि ने वैराग्य भाव से दीक्षा अंगीकार की थी, परंतु वर्षाकाल में एकांत में पर्वत की गुफा में जब उन्हें राजीमती का निर्वस्त्र देह दिखाई दिया, उसके साथ ही उनका वैराग्य भाव नष्ट हो गया । उनके दिल में संसार के वैषयिक सुखों के प्रति आकर्षण पैदा हो गया । राजीमती के दैहिक सुख को पाने के लिए व दुर्लभता से प्राप्त संयम जीवन को छोड़ने के लिए तैयार हो गए ।

चरम शरीरी आत्मा में भी रूप का यह कैसा आकर्षण ? स्त्री के रूप का

आकर्षण वैराग्य भाव को नष्ट कर देता है...अतः संयम जीवन में अपने वैराग्य भाव को टिकाए रखने के लिए स्त्रियों के संसर्ग से सर्वथा दूर रहना चाहिये ।

अनादि काल से इस भवचक्र में परिभ्रमण कर रही आत्मा को कर्ण, चक्षु आदि इन्द्रियाँ हर भव में प्राप्त नहीं हुई हैं, परंतु स्पर्शनेन्द्रिय के सुख / काम के सुख के संस्कार अनादि काल से आत्मा में रहे हुए है ।

पेट्रोल स्पर्श करने में टंडा लगता है, परंतु एक चिनगारी का स्पर्श होते ही भयंकर आग पैदा हो जाती है, बस, इसी प्रकार वैराग्य व नित्य धर्मोपदेश श्रवण आदि से आत्मा में घर कर गए कुसंस्कार दब जाते हैं, किंतु ज्योंहि उन्हें निमित्त मिलता है, वे कुसंस्कार जागृत हो जाते हैं और आत्मा का भयंकर अधः पतन करने के लिए तैयार हो जाते हैं, अतः अपने वैराग्य भाव को सुरक्षित रखने के लिए कुसंग, व कुनिमित्त से सर्वथा दूर ही रहने का प्रयत्न करना चाहिये ।

इसके साथ ही अपने वैराग्य भाव की अभिवृद्धि के लिए वैराग्य पोषक ग्रंथों का पुनः पुनः परिशीलन करते रहना चाहिये ।

वैराग्य शतक, शांत सुधारस, प्रशमरति तथा समरादित्य चरित्र आदि ग्रंथों का पुनः पुनः स्वाध्याय करने से अपने वैराग्य-दीप की ज्योत सुरक्षित रहती है ।

जिसे भगवान पसंद नहीं पडते हो, वह अधम व्यक्ति है ।
जिसे भगवान भी पसंद पडते है अर्थात् जो भगवान
को छोड अन्य व्यक्ति या वस्तु को भी पसंद
करता है, वह मध्यम व्यक्ति है और
जिसे भगवान ही पसंद है, भगवान को छोड अन्य
किसी भी व्यक्ति या वस्तु का आकर्षण नहीं है,
वह महान् व्यक्ति है ।

९. वास्तविक-संसार

'रागादिक परिणाम युत, मन हि अनंत संसार ।'

ते हि ज रागादिक रहित, जाने परमपद सार ॥ समता शतक

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म. ने प्रस्तुत गाथा में आत्मा के भाव-संसार के स्वरूप को सुंदर ढंग से समझाया है ।

मनुष्य-तिर्यच-देव-नारक आदि रूप संसार द्रव्य संसार है ।

आत्मा के परिभ्रमण-जन्म-मरण का क्षेत्र १४ राजलोक प्रमाण है, यह क्षेत्र-संसार है ।

ठंडी-गर्मी-वर्षा-वसंत आदि ऋतुएँ काल संसार है ।

पांच इन्द्रियों के अनुकूल पदार्थों में राग करना और प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष करना-यही भाव संसार है ।

जैसे नींव के आधार पर इमारत खड़ी होती है, उसी प्रकार भाव-संसार के आधार पर ही आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र और काल संसार की इमारत खड़ी है ।

जिस दिन आत्मा का भाव-संसार टूट जाएगा । उसी दिन आत्मा का द्रव्यादि संसार भी नष्ट हो जाएगा ।

आत्मा में भाव-संसार बैठा न हो तो ये द्रव्यादि संसार आत्मा का कुछ भी बिगाडने में समर्थ नहीं है ।

मन में राग-द्वेष के जो विचार (परिणाम-अध्यवसाय) उत्पन्न होते हैं, उसी से आत्मा अपने भावी संसार को खडा करती है ।

और जब मन में राग आदि विचार नष्ट हो जाते हैं, त्योंही आत्मा के लिए परम पद की प्राप्ति आसान हो जाती है ।

ठीक ही कहा है-

'क्लेशे वासित मन संसार

क्लेश रहित मन ते भव पार ।'

मन जब संक्लेश-ग्रस्त होता है, वो ही आत्मा का संसार है और जब मन संक्लेशों से मुक्त हो जाता है, तो उसके परिणाम स्वरूप आत्मा भव का पार पा लेती है ।

सच मायने में रागादि से ग्रस्त आत्मा ही संसार है और रागादि संक्लेशों से मुक्त आत्मा ही मोक्ष है ।

१०. मुक्ति के लिए अनिवार्य तत्व

इस संसार में मुख्यतया दो पदार्थ हैं-जीव और अजीव अथवा जड़ और चेतन ।

अपने जीवन-व्यवहार में हमें इन दो तत्वों के संपर्क में आना ही पड़ता है ।

जीव और जड़ पदार्थों के प्रति हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिये, ताकि नवीन कर्मों का बंध न हो, इसका बहुत ही सरल उपाय तारक जिनेश्वर परमात्मा ने बतलाया है ।

जड़ पदार्थों के प्रति हमारे दिल में विरक्ति का भाव होना चाहिये और जीव-चेतन पदार्थ के प्रति हमारे दिल में वात्सल्य भाव होना चाहिये ।

जड़ तत्व परिवर्तनशील है, उसके पर्याय सतत बदलते रहते हैं । आज जो पर्याय हमें अच्छा लग रहा है, कल वो ही पर्याय हमारे लिए घृणा का कारण बन सकता है । आज वस्तु का जो सुंदर पर्याय है, कल वो ही बिभत्स पर्याय भी हो सकता है । अतः जड़ पदार्थ हमारी आत्मा के लिए बंधन रूप न बने, इस हेतु हमें उन पदार्थों के प्रति विरक्ति का भाव रखना चाहिये ।

विरक्ति अर्थात् मन पसंद वस्तु के पर्याय के प्रति राग नहीं करना और नापसंद पर्याय के प्रति द्वेष नहीं करना ।

मोहाधीन बनी आत्मा जड़ पदार्थों के अनुकूल पर्यायों में ही सुख की कल्पना कर उन अनुकूल पर्यायों में राग और प्रतिकूल पर्यायों में द्वेष करती है, उन राग और द्वेष के द्वारा आत्मा नवीन कर्मों का बंध करती है । नवीन कर्मबंध से बचने के लिए अपने हृदय में विरक्त भाव को दृढ़ करना होगा ।

सामान्यतया अपने प्रति थोड़ा भी प्रतिकूल व्यवहार करनेवाले व्यक्ति के प्रति अपने मन में द्वेष, घृणा व तिरस्कार का भाव पैदा हुए बिना नहीं रहता है ।

जरा दृष्टिपात करे-भूतकाल में हुए उन महापुरुषों के प्रति, जिन्होंने मरणांत कष्ट देनेवाले जीवों के प्रति, अपने साथ दुर्व्यवहार करनेवालों के प्रति लेश भी दुर्भाव पैदा नहीं किया था ।

★ गुजसुकुमाल मुनि के मस्तक पर उन्हीं के श्वसुर ने अंगारे डाले थे, फिर भी उन्हींने दिल में श्वसुर के प्रति लेश भी दुर्भाव पैदा नहीं किया था ।

★ चमडी उतारने की आज्ञा देनेवाले राजा के प्रति खंघक मुनि के

दिल में लेश भी तिरस्कार भाव पैदा नहीं हुआ था...इसी के परिणाम स्वरूप उन्होंने उसी भव में अपना आत्मा कल्याण साध लिया था ।

एक भी जीव के प्रति रहा द्वेष भाव हमारी सद्गति और परमगति को रोकने में समर्थ है ।

११. मुनि-सुख

व्यापारी व्यापार में, सुख करी माने दुःख ।

क्रिया कष्ट सुख में गिने, त्युं वांछित मुनि सुख ॥ समाधिगतक

व्यापारी की बाह्य व अंतरंग परिस्थिति से हम सब परिचित है । व्यापारी को माल खरीदने, बेचने, ग्राहकों से पैसे वसूल करने आदि आदि क्रियाओं में कितना कष्ट उठाना पड़ता है...परन्तु दिन या वर्ष के अंत में यदि उसे भारी मुनाफा होता वर्ष दरम्यान हुए उन सभी कष्टों को वह भूल जाता है । उसे वह कष्ट भी सुखदायी लगता है, क्योंकि उसकी नजर उस कष्ट की ओर नहीं किंतु कष्ट से होनेवाले मुनाफे की ओर है ! मुनाफा पाने के लिए वह सब कुछ सहन करेगा । ग्राहकों के कडवें शब्दों को भी वह अमृत मानकर जाएगा ।

एक मजदूर दिन भर मजदूरी करता है, परंतु संध्या समय ज्योंहि उसके हाथ में २५-५० रु. आते हैं, वह मजदूरी के कष्ट को भूल जाता है ।

बस, यही स्थिति है आत्मा साधक मुनि की ।

मुनि के साधना मार्ग में भूख, प्यास, ठंडी, गर्मी, विहार, केश लोंच आदि अनेक कष्ट आते हैं...परंतु उन कष्टों को समतापूर्वक सहन करने के परिणाम स्वरूप होने वाली कर्म निर्जरा के प्रति निर्धारित लक्ष्य होने के कारण मुनि को वे कष्ट, कष्ट रूप नहीं लगते है ।

साधक मुनि को यह स्पष्ट बोध होता है कि जिस प्रकार अग्नि में तपे बिना सोना शुद्ध नहीं होता है, हथोड़ी व छैनी के मार को सहन किए बिना पत्थर, मूर्ति स्वरूप नहीं बनता है, उसी प्रकार संयम जीवन के कष्टों को हंसते मुंह स्वीकार किए बिना साधक कभी भी मुक्तिमार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता है ।

१२. साधु का सुख

१. १ मास के चारित्र पर्यायवाला साधु वाण ब्यंतर देवों से अधिक सुखी होता है ।
२. दो मास के दीक्षा पर्यायवाला साधु भवनपति देवों से अधिक सुखी होता है ।
३. तीन मास के चारित्र पर्यायवाला साधु असुरकुमार इन्द्र से अधिक सुखी होता है ।
४. चार मास के पर्यायवाला ग्रह-नक्षत्र-तारादेवों से अधिक सुखी होता है ।
५. पांच मास के दीक्षा पर्यायवाला सूर्य-चन्द्र के देवों से अधिक सुखी होता है ।
७. सात मास के पर्यायवाला ३-४ देवलोक के देवों से अधिक सुखी होता है ।
८. आठ मास के पर्यायवाला ५-६ देवलोक के देवों से अधिक सुखी होता है ।
९. नौ मास के पर्यायवाला ७-८ देवलोक के देवों से अधिक सुखी होता है ।
१०. १० मास के पर्यायवाला ९ से १२ देवलोक के देवों से अधिक सुखी होता है ।
११. ११ मास के पर्यायवाला ९ ग्रैवेयक के देवों से अधिक सुखी होता है ।
१२. १२ मास के पर्यायवाला ५ अनुत्तर देवों से अधिक सुखी होता है ।



१३. माधुकरी भिक्षा (गोचरी)

किसी वस्तु के गंभीर और अगोचर रहस्य को समझाने के लिए विद्वान् व कवि लोग 'उपमाओं' का भी आश्रय लेते हैं । जो वस्तु अप्रसिद्ध हो अथवा उसका रहस्य समझना आबाल गोपाल वर्ग के लिए कठिन हो तब उस वस्तु अथवा उस वस्तु के रहस्य को किसी सुप्रसिद्ध लोकमान्य वस्तु की उपमा द्वारा समझाने का प्रयास किया जाता है ।

जैन धर्म में 'श्रावक' शब्द का अपना विशिष्ट अर्थ है । उसकी जीवन चर्या अन्य सांसारिक आत्माओं से कुछ अलग पड जाती है, वह संसार में रहा होने पर भी संसार से अलिप्त रहता है, उसकी इस अलिप्तता को समझाने के लिए ही जिनागमों में उसे 'कमल' की उपमा दी गई है । जिस प्रकार कमल कीचड में पैदा होता है और जल से वृद्धि पाता है, परन्तु आश्चर्य है कि सरोवर में खिला हुआ कमल कीचड व जल से बिल्कुल अलग रहता है ।

बस, श्रावक की भी यही स्थिति होती है, वह कर्म रूपी कीचड से संसार में पैदा होता है और भोग रूपी जल से वृद्धि पाता है, किंतु वह उन दोनों से बिल्कुल अलिप्त रहता है । संसार के बीच रहते हुए भी संसार से अलिप्त होकर रहना-यही श्रावक की अपनी विशेषता है । और इसी अलिप्तता के कारण अन्य संसारी आत्माओं की अपेक्षा उसकी भाषा, उसका रहन सहन, उसकी शिक्षा-दीक्षा और उसका जीवन सर्वथा अलग पड जाता है ।

जैन धर्म में साधु (श्रमण) की भिक्षा वृत्ति के लिए बहुत ही सुंदर उपमा दी गई है । जैन साधु की भिक्षा को 'माधुकरी भिक्षा' कहा जाता है ।

मक्खी और मधुमक्खी के स्वभाव में बड़ा अंतर है । मक्खी हमेशा गंदगी पर बैठना पसंद करती है और कदाचित् अच्छी वस्तु पर भी बैठेगी तो उस वस्तु को भी बिगाडे बिना नहीं रहेगी, परन्तु मधुमक्खी कभी गंदगी पर बैठना पसंद नहीं करती है, वह तो पुष्पों की सुगंध से भरपूर उद्यान में ही परिभ्रमण कर रसास्वाद लेती रहती है ।

मधुमक्खी की यह विशेषता होती है कि वह सतत घूमती रहती है, वह अपने जीवन निर्वाह के आवश्यक पराग लेती रहती है, वह पुष्प को पीडा पहुँचाएँ बिना थोडा-थोडा रस लेती है और इस प्रकार अनेक पुष्पों पर बैठकर उसमें से मधु प्राप्त कर शहद के छत्ते का निर्माण करती है ।

मधुमक्खी की भांती ही जैन साधु की भिक्षा होती है। वे अनेक घरों से थोड़ी थोड़ी भिक्षा इस प्रकार ग्रहण करते हैं कि गृहस्थ को लेश भी पीडा नहीं पहुँचती हैं और गृहस्थ भी भिक्षा का दान देकर प्रसन्नता का अनुभव करता है।

जैन साधु को किसी गृहस्थ के घर से उतनी ही प्रमाणोपेत थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेने की है कि उसे पुनः भोजन का आरंभ समारंभ न करना पड़े।

प्रश्न खडा हो सकता है-गृहस्थ यदि समृद्ध है तो अधिक भिक्षा लेने में भी गृहस्थ को पीडा होने की कहाँ संभावना है ?

इसका समाधान यही है कि गृहस्थ भले ही समृद्ध हो परंतु उसके वहां से एक ही साथ संपूर्ण भोजन साधु ले ले तो वह गृहस्थ स्वयं के लिए नया भोजन बनाए बिना नहीं रहेगा और इसके फलस्वरूप इस आरंभ-समारंभ की हिंसा के पाप से साधु बच नहीं सकेगा। अतः उस हिंसा जन्य पाप से बचने के लिए भी साधु को अल्प प्रमाण में ही भिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

जैन आगमों में साधु की भिक्षा संबंधी ४२ दोष बतलाएँ गए हैं, उन दोषों का त्याग करते हुए साधु को भिक्षा ग्रहण करने की होती है। उन दोषों से रहित भिक्षा को ही 'निर्दोष-भिक्षा' कही जाती है।

जैन साधु की भिक्षा के लिए 'गोचरी' शब्द का भी प्रयोग होता है। जैसे गाय जब वन में चरती है तब सब जगह से थोड़ा थोड़ा ऊपर-ऊपर से घास चरती है, जब कि गधा मूल से उखेड करके ही घास खा जाता है।

जैन मुनि भी गाय की भांति अनेक घरों से थोड़ा आहार ग्रहण कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं, अतः वे किसी के लिए भारभूत अथवा अप्रिय नहीं बनते हैं, जबकि अपने त्यागमय जीवन के कारण अत्यंत ही प्रभावक और लोकप्रिय बनते हैं।

निर्दोष-भिक्षा को भी वापरते समय राग-द्वेष न हो जाय, इसके लिए खूब सावधानी रखनी चाहिये ! गोचरी बहोरते समय ४२ दोषों से बचना है तो गोचरी वापरते समय ५ दोषों से बचने का प्रयत्न होना चाहिये।

युद्ध के मैदान में हजारों-लाखों दुश्मनों पर विजय प्राप्त करना आसान है किंतु अपनी ही पांच इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना कठिन है।

१४. पाद विहार के फायदे

लोकोत्तर ऐसे जैन शासन के प्रणेता तारक तीर्थंकर परमात्माओं ने आजीवन सर्व पाप के त्याग की प्रतिज्ञा करनेवाले श्रमण भगवंतों के लिए पाद विहार की अनुज्ञा फरमाई है।

पाद विहार के अनेक फायदे हैं-

१. **जीवदया पालन** दीक्षा अंगीकार करते समय जैन श्रमण की यह दृढ प्रतिज्ञा होती है कि वे जीवन पर्यंत किसी भी जीव की हिंसा नहीं करेंगे, अन्य के पास हिंसा नहीं कराएंगे और हिंसा करनेवाले की अनुमोदना भी नहीं करेंगे। इस प्रतिज्ञा का पालन तभी संभव है, जब वाहन का सर्वथा त्याग किया जाय। मोटर, गाडी, रिक्शा, स्कूटर, साईकल आदि वाहनों में हिंसा रही हुई है। उस हिंसा के पाप से बचने के लिए 'पाद-विहार' श्रेष्ठतम उपाय है। बीच मार्ग में चल रहे कीड़े-मकोड़े आदि प्राणियों की रक्षा, पाद विहार से ही संभव है।
२. **अपरिग्रह व्रत का पालन** दीक्षा लेते समय साधु की यह प्रतिज्ञा होती है कि वह अपने पास कुछ भी धन नहीं रखेगा। किसी भी वाहन द्वारा कहीं जाना हो तो उस यात्रा Traveling का मूल्य अवश्य चूकाना पडता है। बिना टिकिट लिए बस ट्रेन में यात्रा संभव नहीं है। पादविहार में टिकिट लेने आदि की कोई झंझट नहीं रहती है।
३. **ब्रह्मचर्यव्रत में सहायक** मोज मजा व आनंद-प्रमोद के साधन ब्रह्मचर्य पालन में बाधक गिने गए हैं। अनुकूलताओं के सेवन से राग भाव भी पुष्ट बनता है। कठोर जीवन पद्धति ब्रह्मचर्य पालन में सहायक है। पाद विहार में शारीरिक श्रम होता है। 'काम काम का नाशक है।' इस युक्ति के अनुसार विहार का कठोर श्रम करने से काम वासना पर भी नियंत्रण आता है।
- ४) **ममत्व त्याग** एक ही नगर में लंबे समय तक रहने से मकान व वहां के निवासी लोगों के प्रति ममत्व भाव बढना संभव है। परंतु पाद विहार की पद्धति में साधु को किसी एक गांव या नगर में रहने का नहीं होता है। हमेशा स्थान बदलते रहते हैं, अतः ममत्व की संभावना कम रहती है।
- ५) **अनेक जिन मंदिरों के दर्शन** पाद विहार करने से बीच मार्ग में आनेवाले

अनेक गांवों के अनेक जिन मंदिरों के दर्शन-वंदन आदि का लाभ मिल सकता है। छोटे-छोटे गांवों के जैन संघों के साथ धार्मिकता का संबंध जुड़ता है।

पाद-विहार द्वारा छोटे-छोटे गाँवों में भी साधु भगवंतो की स्थिरता होने से वहाँ के संघ को भी जिनवाणी श्रवण का अमूल्य लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार गांव गांव में सद्धर्म का प्रचार होता है। अनेक आत्माओं में बोधि बीज का वपन होता है। जैनत्व के संस्कारों का सिंचन होता है।

६) **स्वाधीन जीवन पद्धति** साधु जीवन अर्थात् स्वाधीन जीवन। वस्त्रों में सिलाई नहीं, अर्थात् दर्जी की अपेक्षा नहीं। - केश लॉच होने से हजाम की अपेक्षा नहीं।

- सोने-चांदी-लोहे के बर्तन-आभूषण नहीं होने से सुनार, लुहार, सुथार आदि की अपेक्षा नहीं।

भिक्षा पद्धति से रसोईघर व रसोइयों की अपेक्षा नहीं। इस प्रकार हर तरह से स्वाधीन जीनेवाले जैन श्रमण के लिए पाद-विहार भी स्वाधीन जीवन को ही पुष्ट करता है।

७) **स्वास्थ्यलाभ** पाद विहार में शारीरिक श्रम रहा हुआ है। शारीरिक श्रम से भोजन भी जल्दी पचता है। इस प्रकार पाद विहार की कष्टपद किया शारीरिक आरोग्य को भी पुष्ट करती है।

१५. संयोग और स्वभाव

जहां संयोग है, वहां वियोग अवश्यभावी है।

जहां संयोग संबंध हैं, वहां वियोग हुए बिना नहीं रहता। ठीक ही कहा है **'संयोगो वियोगो कारण'** संयोग वियोग का कारण है।

धन और धनी का संयोग संबंध है, पति और पत्नी का, पिता और पुत्र का मकान और मकान मालिक का, देह और आत्मा का संयोग संबंध है। संयोग जन्य संबंध एक न एक दिन अवश्य टूटते ही है।

अग्नि और उष्णता, पानी और शीतलता, की तरह आत्मा और ज्ञान-दर्शन आदि आत्म गुणों का स्वभाव संबंध है। यह स्वभाव कभी दूर होनेवाला

है।

दुःख की बात है कि अज्ञानता के कारण संयोग जन्य संबंधों को शाश्वत मान लिया है और इसी गलत भ्रमणा के कारण अपनी आत्मा ने इस संसार में दुःख की परंपरा प्राप्त की है।

'संयोग मूला जीवेण पत्ता दुक्खपरंपरा ।'

संयोग संबंध को शाश्वत मान लेने की भूल, सबसे बड़ी भूल है।

१६. संयोग और समाधि

बाह्य परिस्थितियाँ कर्माधीन है। उन परिस्थितियों को बदलना अपने वश की बात नहीं है। पुण्य का पवन अनुकूल होगा तो सारे संयोग अनुकूल हो जाएंगे और पाप का उदय होगा तो सारे संयोग प्रतिकूल हो जाएंगे।

सामान्य जीव प्रतिकूल संयोगों में आर्तध्यान के वशीभूत हो जाते हैं, परन्तु धर्मी आत्मा के लिए प्रतिकूल संयोग भी आर्तध्यान के कारण नहीं बनते हैं। क्योंकि वह बाह्य संयोगों को अनुकूल करने के बजाय अपनी मनःस्थिति को ही बदल देते हैं और इस कारण दुःखद परिस्थिति में भी वह आत्मा अपने चित्त की समाधि को जीवंत रख सकती है। पानी का यह स्वभाव है, उसे जिस बर्तन में डाला जाय उसके अनुरूप हो जाता है। जो व्यक्ति अपने मन को बाह्य संयोगों के अनुकूल बना देता है, उसके लिए समाधि अत्यंत ही सुगम है।



१७. वैराग्य सुलभ या दुर्लभ ?

वास्तव में देखा जाय तो पंचम काल में वर्तमान युग में वैराग्य अत्यंत सुलभ हैं, क्योंकि सुख के साधन कम और दुःख के साधन कदम-कदम पर हैं। अखबार हाथ में ले और पहले ही पेज पर भयंकर दुर्घटनाओं के समाचार पढ़ने को मिलते हैं। कोई दिन खाली नहीं, जिस दिन बस-दुर्घटना या अन्य दुर्घटना के समाचार नहीं मिलते हो।

लग्न में जा रहे हो...वे भी लग्न-स्थल के बजाय परलोक पहुँच जाते हैं। आज के युग में बूढ़े ही मरते हो, ऐसा तो नहीं है। जन्मा हुआ बालक भी मौत का शिकार हो जाता है...यौवन के प्रांगण में प्रवेश करनेवाला भी मौत को भेंट जाता है...हस्त-मिलाप की क्रिया के साथ ही बेमौत मर जाता है...ऐसी घटनाएँ कदम-कदम पर देखने पढ़ने व सुनने को मिलती है।

★ मौत से बढ़कर वैराग्य का प्रबल निमित्त दूसरा क्या हो सकता है ? स्वप्न में भी जिसके मौत की कल्पना नहीं की हो, जिसके शरीर में रोग का नामोनिशान न हो...अपार संपत्ति का मालिक हो, ऐसा व्यक्ति भी चंद्र क्षणों में जब दुनिया से विदाई ले लेता है...इन घटनाओं को देखकर तो तत्क्षण वैराग्य होना चाहिये। आज उसकी मौत हुई है...कल मेरी बारी भी आ सकती है, तो क्यों न, जाने से पहले अपनी आत्म-साधना कर लूँ ? जिस रत्नत्रयी की आराधना-साधना के लिए मानव जन्म मिला है, उसे साधे बिना ऐसे ही मैं मर जाऊँ तो मेरा मनुष्य जन्म भी बेकार, माना जाएगा।

चोथे आरे में तो सुख के साधन अत्यधिक थे। पत्नियाँ भी देवांगनाओं जैसी तथा पति की आज्ञाओं को शिरोधार्य करनेवाली थी। जब कि आज की स्त्रियों का तो वर्णन करने जैसा नहीं है। पति दो सुनाएँ तो वे चार सुनाने वाली हैं। पति को नमस्कार करने के बजाय पति को पैरों में गिराने वाली हैं।

चोथे आरे में धन के लिए इतने भयंकर चाप करने नहीं पड़ते थे। आज तो हिंसा, झूठ व चोरी के भयंकर पाप किए बिना धन कहां सुलभ हैं ? धन मिलने के बाद भी कितने भयस्थान सामने खड़े हैं। धन प्राप्ति के बाद भी सुरक्षा कहाँ है ? वो ही धन आपके लिए हत्या व मौत का कारण बन सकता है। यह सब देखने पर तो वैराग्य अत्यंत ही सुलभ लगता है !

परंतु वैराग्य के लिए चाहिये-आसन्न मोक्षगामिता ! जिन आत्माओं को अभी संसार में अत्यधिक भटकना बाकी है, जो जीव कृष्ण-पाक्षिक है...उन जीवों को तो वैराग्य के प्रबल निमित्त मिल जाय तो भी उन जीवों को वैराग्य सुलभ नहीं है।

१८. वैयावच्च

गौतम स्वामीजी ने भगवान महावीर परमात्मा को पूछा, 'वैयावच्चेणं भंते किं जणयइ ?'

हे भगवंत ! वैयावच्च से आत्मा किस कर्म का बंध करती है ?

महावीर प्रभु ने कहा, 'वैयावच्चेणं तित्थयर-नामगोतं कम्मं बंधइ।'।

वैयावच्च से आत्मा यावत् तीर्थकर नामकर्म का बंध कर सकती है।

वैयावच्च अर्थात् सेवा भावना !

सामान्यतः जीवन में इस गुण की प्राप्ति होना अत्यंत कठिन है।

बाल, वृद्ध, ग्लान, तपस्वी, आचार्य, सद्गुरु आदि सेवा के पात्र है।

उनकी सेवा करने से प्रचंड पुण्य का बंध तथा अपूर्व कर्म निर्जरा होती है।

भरत और बाहुबली ने बाहु सुबाहु के भव में ५००-५०० मुनियों की खूब सेवा भक्ति की थी। इस भक्ति के फलस्वरूप ही बाहु मुनि ने चक्रवर्ती का पद प्राप्त किया था और सुबाहु मुनि ने चक्रवर्ती से भी न हारे, ऐसा अतुल बल प्राप्त किया था।

वैयावच्च गुण को अप्रतिपाती गुण कहा गया है अर्थात् इस गुण से प्राप्त पुण्य किसी भी प्रकार से नष्ट नहीं होता है।

सेव्य की सेवा-भक्ति करने से सेव्य में रहे गुण सेवक को प्राप्त होते हैं। अर्थात् योग्य आत्माओं की सेवा करने से अपनी आत्मा में भी अनेक सद्गुण पैदा होते हैं।

प्रकृति का यह नियम है As you sow so you reap जैसा बीज बोओगे, वैसा ही फल पाओगे !

ठीक ही कहा है-

'बोए बीज बबूल का आम कहां से होय ?' आम का बीज बोओगे तो आम मिलेगा, परंतु बबूल का बीज बोओगे तो कांटे ही मिलने वाले हैं।

ग्लान-रोगी-वृद्ध की सेवा करने से उनकी आत्मा को शांति मिलती है। अंतर से उनके आशीर्वाद प्राप्त होते हैं, अतः सेवा के फलस्वरूप-भविष्य में सेवक को भी परमशांति-समाधि की प्राप्ति होती है।

आप दूसरों को हैरान-परेशान करोगे तो आपको 'हाय' मिलने वाली हैं, जबकि आप दूसरों की सेवा करोगे तो 'दुआ' मिलने वाली है। दवा से भी दुआ की कीमत बढ़ जाती है। जो काम दवा से नहीं होता है, वह काम दुआ से

हो जाता है ।

दुःख और वेदना से कराहते हुए व्यक्ति की मृत्यु होती है तो अवश्य दुर्गति होती है । वैयावच्च द्वारा उस ग्लान-दुःखी व्यक्ति की वेदना में जब हम सहभागी बनते हैं, तब उस आत्मा को शांति-समाधि की प्राप्ति होती है, जिसके फलस्वरूप उस आत्मा को सद्गति प्राप्त होती है । किसी की सद्गति में हम निमित्त बनेंगे तो हमें भी सद्गति प्राप्त होगी ।

वैयावच्च का यह प्रत्यक्ष फायदा है । इस लाभ से वंचित रहकर हम अपना ही कुछ खोते हैं ।

★ संप्रति महाराजा पूर्वभव में भिखारी थे । भीख मांगने पर भी उसे भीख नहीं मिल रही थी । ज्ञानी गुरुदेव ने भावि लाभ देखकर उस भिखारी को दीक्षा दी ।

दीक्षा के बाद अन्य मुनियों ने नूतन दीक्षित मुनि की आहार-पानी से भक्ति की ।

भवितव्यता के योग से दीक्षा के पहले दिन ही नूतन मुनि का स्वास्थ्य खराब हो गया ।

उस समय अन्य मुनियों ने उनकी अपूर्व सेवा की । उन मुनियों ने उस मुनि की पूर्वावस्था को यादकर उनका तिरस्कार नहीं किया ।

अन्य मुनियों ने सद्भाव पूर्वक नूतन ग्लान मुनि की जो सेवा-शुश्रुषा की उस सेवा शुश्रुषा को देख भिखारी मुनि के हृदय में भी इस चारित्र-संयम धर्म के प्रति अहोभाव पैदा हो गया । इस 'अहोभाव' के द्वारा उस ग्लान मुनि ने ऐसा पुण्य उपार्जन किया, जिसके फलस्वरूप वे मरकर 'संप्रति' महाराजा बनें । जैन शासन की अद्भुत प्रभावना की ।

अन्य मुनियों के 'सेवा भाव' ने उनकी आत्मा को इतना ऊपर उठा दिया ।

'सेवा' धर्म का यह कोई सामान्य लाभ नहीं है ।

- ग्लान-वृद्ध आदि मुनियों की सेवा करने से शाता वेदनीय कर्म का बंध होता है । इस कर्म के उदय से आत्मा को आगामी भव में सुख-शाता की प्राप्ति होती है ।
- ऋषभदेव प्रभु ने अपने नौवें जीवानंद वैद्य के भव में अन्य पांच मित्रों के साथ कोढ़ रोग से ग्रस्त मुनि की अपूर्व सेवा-वैयावच्च की थी इस सेवा द्वारा उन्होंने अपूर्व पुण्य कर्म का बंध किया था ।



समर्पण अर्थात् जहां 'I am something' की वृत्ति सर्वथा समाप्त हो जाती है और I am nothing 'मैं कुछ भी नहीं हूँ' 'मेरा कुछ भी नहीं है' यह वृत्ति हृदय में पैदा होती है ।

पानी दूध को समर्पित होता है तो दूध की सफेदी पानी को मिल जाती है । बस, इसी प्रकार साधना मार्ग में जो साधक गुरु के चरणों में समर्पित होता है, उसे गुरु में रहा ज्ञान, गुरु में रही शक्तियाँ स्वतः पैदा होती है ।

जो शिष्य गुरु को पूर्ण समर्पित होता है, उसका स्थान गुरु के हृदय में होता है ।

जहां समर्पण भाव पैदा होगा, वहां अपनी स्वयं की इच्छाएँ गौण बन जाएगी है । समर्पित शिष्य का जीवन गुरु की आज्ञानुसार होता है, उसके लिए गुरु की आज्ञा प्राणों से भी प्यारी होती है ।

पत्थर, शिल्पी को समर्पित होता है तो शिल्पी उस पत्थर में से मन-चाही प्रतिमा का निर्माण कर सकता है । बस, इसी प्रकार जो शिष्य गुरु चरणों में पूर्ण समर्पित होता है, गुरु उस शिष्य को स्वैच्छिक आकार दे सकते हैं ।

गुरु की आज्ञा का संपूर्ण पालन करे, उसी को योग्य शिष्य कहा जाता है । शिष्य का अर्थ ही है 'शासितुं योग्य = शिष्य । जो शासन करने के लिए योग्य हो, उसी को शिष्य कहा जाता है ।'

कबीर ने कहा हैं-

'गुरु को शिर पर राखिए, चलीए आज्ञामांहि ।

कहते कबीर ता दास को, तीन लोक डर नाहि ॥'

जो शिष्य गुरु को शिर पर रखता है और उनकी आज्ञानुसार जीवन जीता है, उसे तीन लोक में किसी का डर नहीं रहता है ।

'गुरुतत्व विनिश्चय' ग्रंथ में गुरु भक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है-

'शुद्ध सामाचारी रूप गुर्वाज्ञा का पालन करने से आत्मा समस्त कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान पाकर शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त करती है ।'

गुरु कृपा से ही अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती है ।

इस संसार रूपी अटवी में मोक्षमार्ग का अनुसरण करनेवाले भव्य जीवों के लिए एकमात्र सद्गुरु ही मार्ग दर्शक रूप है ।

कुशल वैद्य दर्दी को योग्य दवाई प्रदान कर रोग मुक्त करता हैं, उसी प्रकार सद्गुरु भी सद्धर्म रूपी औषधि प्रदान कर आत्मा को कर्म रोग से मुक्त करते हैं ।

एक बालक के हृदय में अपनी माता के प्रति जो समर्पण भाव होता हैं, वैसा समर्पण भाव शिष्य के हृदय में गुरु के प्रति होना चाहिये ।

समर्पण भाव में जितनी न्यूनता होगी, उतना ही आत्म-विकास कम होगा ।

‘अध्यात्म-सार’ में कहा हैं-

‘गुर्वाज्ञा पारतन्त्र्येण, द्रव्य दीक्षा ग्रहादपि ।

वीर्योल्लासक्रमात् प्राप्ता बहवः परम पदम् ॥’

द्रव्य दीक्षा ग्रहण करने पर भी गुर्वाज्ञा की परतंत्रता अर्थात् गुरु समर्पण भाव के कारण वीर्योल्लास बढ़ने से आत्मा सम्यक्त्व, चारित्र और क्षपक श्रेणी के क्रम से अनेक जीवों ने मोक्ष पद भी प्राप्त किया है ।

२०. गुरुकुल वास

श्री आचारांग सूत्र में कहा है- ‘गुरुकुलवास समस्त गुणों का मूल हैं’ इस कारण जो भाव साधु हैं वह कभी भी गुरुकुलवास का त्याग नहीं करता है । गुरुकुलवास अर्थात् गुरु के सानिध्य में रहकर उनकी आज्ञाओं का अच्छी तरह से पालन करना ।

आप्त पुरुषों की आज्ञा पालन की रुचि को ही चारित्र कहा गया है । कहा भी हैं

‘आणाएच्चिय चरणं, तब्भंगे जाण किं न भग्गति !

आणं च अइक्कंतो, कस्सएसा कुणइ सेसं ॥’

‘जिनाज्ञा पालन में ही चारित्र हैं, अतः जिनाज्ञा के भंग में सभी का भंग हो जाता है । जिनाज्ञा का उल्लंघन करनेवाला किसकी आज्ञा से अनुष्ठान आदि करता है ?’

मोक्ष का प्रकृष्ट साधन धर्म हैं और धर्म का उपाय गुरुकुलवास है । जिनाज्ञा रहित अनुष्ठान को निरर्थक माना गया है ।

गुरुकुल के त्याग में भगवान की आज्ञा का त्याग रहा हुआ हैं, क्योंकि गुरुकुल का त्याग नहीं करना, यह प्रभु की आज्ञा है ।

गुरुकुल वास में उभयलोक का हित रहा हुआ हैं और गुरुकुलवास के त्याग में उभय लोक में अहित रहा हुआ है ।

गुरुकुल में रहने से साधु को प्रतिदिन वाचना सुनने को मिलती हैं, जिससे त्याग, वैराग्य और संयम भाव में अभिवृद्धि होती रहती है । वाचना से श्रद्धा में स्थिरता आती है ।

गुरुकुल में रहने से ही क्षमा आदि साधुधर्मों की सिद्धि होती है । गुरुकुलवास का त्याग करने पर क्षमा आदि धर्मों की सिद्धि नहीं होती हैं, अतः एक अपेक्षा से क्षमादि धर्म से भी गुरुकुलवास का महत्त्व खूब बढ़ जाता है ।

साधु को अकेला रहने के लिए जिनेश्वर भगवंत ने स्पष्ट निषेध किया है । शुभ-अशुभ निमित्त को पाकर आत्म-परिणाम बदलते रहते हैं, अतः अशुभ निमित्त मिलने पर एकाकी साधु, संयम से भी भ्रष्ट बन सकता है ।

★ जिस प्रकार मच्छली की सुरक्षा सागर में रही हुई हैं, उसी प्रकार साधु की सुरक्षा गुरुकुलवास में ही रही हुई है ।

गुरुकुल में रहने से आचार्य आदि की सेवा, वैयावच्च का महान् लाभ मिलता हैं, जिससे अपूर्व पुण्य बंध और कर्म निर्जरा होती है ।

गुरुकुल में रहने से गुरु के संसर्ग से साध्य वैयावच्च, तप, ज्ञान, चारित्र-विशुद्धि आदि गुणों की प्राप्ति होती है ।

- गुरुकुलवास में रहने से पुण्य पुंज स्वरूप गुरु के नित्य दर्शन होते है ।
- गुरुकुलवास में नित्य गुरुवंदन का लाभ मिलता हैं, गुरु-वंदन से गुरु का विनय होता है ।
- गुरु के सानिध्य में रहने से मोक्ष मार्ग संबंधी अन्य आराधना करने का भी सुअवसर प्राप्त होता है ।
- गुरुकुलवास से तीर्थकर की आज्ञापालन का लाभ मिलता है ।

तत्त्वार्थ सूत्र में गुरुकुलवास को ही प्रकृष्ट ब्रह्मचर्य कहा है । वहां ब्रह्म का अर्थ गुरु तथा चर्या का अर्थ प्रवृत्ति किया है । गुरु के अधीन जीवन जीना, उसी को ब्रह्मचर्य कहा है ।

मैथुन वृत्ति के त्याग रूप ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए, ज्ञान की वृद्धि के लिए तथा कषायों की शांति के लिए गुरु के अधीन रहना, वही ब्रह्मचर्य है ।



२१. ममता छोड़े—समता जोड़े !!

बाह्य पौद्गलिक पदार्थों में 'मेरे पन' की बुद्धि अर्थात् ममत्व ही आत्मा के लिए भयंकर बंधन है।

देह में आत्म बुद्धि व बाह्य पदार्थों में ममत्व बुद्धि ही मोहराजा का मंत्र है। उसे जीतने के लिए आत्मा में आत्म बुद्धि व आत्म गुणों में ममत्व बुद्धि करनी चाहियें।

'मैं शुद्ध आत्म द्रव्य हूँ और ज्ञान आदि आत्म गुण ही मेरी संपत्ति हूँ' इस प्रकार की दृढ श्रद्धा के द्वारा मोह को जीता जा सकता है।

बाह्य सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुंदर-असुंदर देह, धन, दौलत, पुत्र, परिवार सत्ता, वैभव, यश-अपयश आदि कर्मजन्य पुण्य-पाप की लीलाएँ हैं—उनमें आत्मज्ञानी आत्मा कभी आसक्त नहीं बनती है।

पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त सुख कोई वास्तविक सुख नहीं है, वह तो अस्थायी है। वास्तव में ममता के त्याग और समता की प्राप्ति के द्वारा जो वास्तविक सुखानुभूति होती है—उसका शब्दों से वर्णन करना भी शक्य नहीं है।

ममत्व रहित वीतराग आत्माएँ आत्मा के वास्तविक सुख की जो अनुभूति करती हैं, वह सुख इस बाह्य जगत् में किसी भी पदार्थ से प्राप्त नहीं हो सकता है। समता रस का आनंद कुछ और ही है।

'भव निर्वेद' अर्थात् संसार के सुखों के प्रति तीव्र वैराग्य भाव के अभाव में की गई साधनाएँ भी मुक्ति का अंग नहीं बन पाती है। अभव्य आत्मा द्वारा द्रव्य चारित्र का पालन भी सार्थक नहीं हैं, क्योंकि उसमें वैराग्य भाव का सर्वथा अभाव होता है।

मात्र आराधना कर लेना...तपश्चर्या कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्येक आराधना के साथ आराधक भाव भी जरूरी है। आराधक भाव के अभाव में की गई आराधना देव और मनुष्य के भौतिक सुख दे सकती है किंतु मोक्ष का सुख तो कदापि नहीं।

२२. प्रार्थना से इष्ट सिद्धि

सच्चे हृदय से की गई प्रभु-प्रार्थना से हमें इष्ट फल की प्राप्ति अवश्य होती है।

इसके लिए प्रभु के प्रति पूर्ण श्रद्धा व भक्ति चाहिये।

प्रभु के सामने कौनसी वस्तुओं की प्रार्थना करनी चाहियें, इसका स्पष्ट बोध हमें प्रार्थना-सूत्र अर्थात् '**जय वीयराय**' सूत्र से प्राप्त होता है।

इस सूत्र में परमात्मा के पास याचना करने योग्य तेरह वस्तुओं की मांग की गई है।

इन तेरह वस्तुओं की प्राप्ति से अपनी आत्मा का भव से निस्तार हुए बिना नहीं रहता है।

अनादि काल से अपनी आत्मा में भव का राग अर्थात् संसार के क्षणिक व तुच्छ सुखों के प्रति तीव्र राग भाव भरा हुआ है, उस आसक्ति तो तोड़ने के लिए ही हमें सर्व प्रथम परमात्मा के सामने '**भव निर्वेद**' की प्रार्थना करते हैं।

हे तारक वीतराग परमात्मा ! आपकी जय हो ! आप जगत् के गुरु हो ! आपकी असीम कृपा से मेरी अंतरात्मा में इस संसार के प्रति अर्थात् इस संसार के क्षणिक व तुच्छ सुखों के प्रति वैराग्य भाव पैदा हो।

अंतरात्मा में संसार के भौतिक सुखों के प्रति एक बार वैराग्य भाव पैदा हो जाय तो मोक्ष के प्रति सद्भाव और परमात्मा के प्रति आदर भाव पैदा होने में देरी नहीं लगती है।

मुक्ति की साधना का मूल आधार भी यही '**वैराग्य भाव**' है। एक बार वैराग्य-भाव पैदा हो जाय तो मुक्ति मार्ग की साधना में वेग आए बिना नहीं रहता है।

एक अपेक्षा से इस '**भव-निर्वेद**' को मुक्ति महल की नींव भी कह सकते हैं।

नींव मजबूत हो तभी महल टिक सकता है, उसी प्रकार '**भव-निर्वेद**' दृढ हो तभी मुक्ति की साधना सुदृढ बन सकती है।

दूसरों की भूलों को भूल जानेवाला ही क्षमा-धर्म का साधक बन सकता है। अपनी भूलों को याद रखनेवाला ही दोष-मुक्त बन सकता है।

२३. निवृत्ति कब लेंगे ?

कई लोग ७०-८० वर्ष के हो जाते हैं-शरीर कमजोर हो जाता है-आंखों की रोशनी घट जाती है-काम करने की शक्ति क्षीण हो गई होती है, फिर भी आश्चर्य है कि वे अपने पद से त्याग पत्र देने के लिए तैयार नहीं होते हैं। ऐसे व्यक्ति जब स्वेच्छा से Retire नहीं होते हैं, तब कुदरत उन्हें Retire नहीं बल्कि Dismiss करती है।

व्यक्ति की शोभा स्वेच्छापूर्वक त्याग पत्र देने में है, न कि Dismiss होने में।

बुजुर्ग Aged man व्यक्ति अपनी वृद्धावस्था के पूर्व ही अपने पद पर से Retire हो जाय तो इसमें उनका हित ही है।

आज कई बूढ़े व्यक्तियों से दुकान छूटती नहीं है। पुत्र नहीं चाहते हैं कि पिताजी, दुकान पर आए। फिर भी एक मात्र धन की तीव्र-आसक्ति के कारण जो वृद्ध दुकान नहीं छोड़ते हैं वे अपने जीवन में दुःखी होते हैं अथवा पुत्र आदि की ओर से तिरस्कृत भी होते हैं।

अनंतज्ञानी तारक परमात्मा तो फरमाते हैं कि भूतकाल में अपनी आत्मा ने संसार के सभी सुखों का उपयोग कर लिया है, संसार के क्षणिक सुख भोगने जैसे नहीं हैं, उन सुखों का त्याग करने में ही अपना हित है अर्थात् आठ वर्ष की लघुवय में ही इन सुखों से Retirement ले लेने में अपना हित रहा हुआ है। 'मृत्यु' उन सुखों को अपने पास से छिन ले और उन सुखों के भोगने के अधिकार से Dismiss करे, इससे बेहतर है कि हम समय रहते स्वयं, सावधान हो जाय और हमेशा के लिए उन सुखों का त्याग कर दे।

जो त्याग पत्र देता है, उसका सम्मान (इज्जत) रह जाता है और जिसे Dismiss किया जाता है, उसकी इज्जत धूल में मिल जाती है।

अपनी शोभा Retired होने में ही है। जो पुण्यवंत आत्मा संसार के सुखों से अपना त्याग पत्र दे देती है, जीवन पर्यंत उसकी इज्जत रहती है, वे जहां जाते हैं, उनका मान और सम्मान होता है। जबकि जो व्यक्ति मृत्यु की अंतिम क्षणों तक संसार के क्षणिक सुखों को छोड़ने की तैयारी नहीं बतलाते हैं, मृत्यु उनके पास से सब कुछ छीन लेती है, उन्हें एकदम कंगाल बना देती है।



२४. गण नायक के आवश्यक गुण

यदि आप किसी समुदाय या गण के नेता, अग्रणी या मुखिया हैं तो आपके जीवन में गण के ईश (गणेश), जो निम्न गुणों के प्रतिक हैं, ये गुण अवश्य होने चाहिये।

- १) **छोटी आंखें** : गणेश की छोटी छोटी आंखें सूक्ष्म दृष्टि की प्रतिक हैं अर्थात् मुखिया व्यक्ति के जीवन में सूक्ष्म दृष्टि होनी चाहिये। हर बात को सूक्ष्म दृष्टि से गंभीरता पूर्वक सोचना चाहिये।
- २) **बड़े कान** : गणेश के कान बड़े हैं, इसका तात्पर्य है मुख्य व्यक्ति को हर व्यक्ति की बात ध्यान पूर्वक सुननी चाहिये। किसी एक की बात सुनकर जो तत्काल निर्णय ले लेते हैं, उन्हें बाद में पछताना ही पड़ता है।
- ३) **लंबा नाक** : हाथी के पास कुछ भी वस्तु आती है, पहले अपने नाक (सूँठ) से उसे सूँघता है। हाथी की सूँठ में पैसे देंगे तो वह तुरंत ही ऊपर महावत को पहुँचाएगा और खाने की चीज देंगे तो तुरंत खा जाएगा। हाथी की तरह मुख्य व्यक्ति को भी हर व्यक्ति की कही बात की परीक्षा करनी चाहिये।

२५. आश्चर्यकारी घटनाएँ

- पार्ला बंबई में हुए उपधान में सुश्रावक कल्पेशभाई जरीवाले ने २२ लाख में पहली माला का चढावा बोला। माला पहिनने के पूर्व ही उन्होंने २२ लाख का चेक दे दिया और उसके बाद ही उपधान की माला पहिनी।
- ९ जनवरी १९७७ के शुभ दिन बंबई में १०८ दीक्षार्थियों का भव्य वरघोडा निकला था। चोपाटी के मैदान में ६०,००० की मानव मेदिनी इकट्ठी हुई थी। मुमुक्षुओं का भव्य सत्कार किया गया।
- वि.सं. २०४७ में गिरिराज के अभिषेक प्रसंग में रजनिभाई देवडी ने खूब उदारता बताई। अभिषेक के बाद उनके हृदय में अपूर्व आनंद था। दादा के शिखर को सोने से मढने की उनकी भावना था। दादा आदीश्वर को देखते और उनकी आर्खों में से अश्रु धारा बहे बिना नहीं रहती।
- हस्तगिरि तीर्थ के निर्माण में कांतिभाई ने अपने जीवन का सर्वस्व अर्पण कर दिया था। भूमि से १२५० फूट की ऊंचाई पर एक लाख दो हजार चार सौ

स्कवायर फूट के विस्तार में गुलाबी संगमर के पत्थर से समवसरण की आकृति में ७२ देवकुलिका, चार मेघनाद मंडप व १४५ फूट की उंचाई-वाले शिखर से युक्त यह भव्य जिनालय सभी के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है।

- चारुप तीर्थ में भोजन शाला व धर्मशाला के निर्माण में एक ही भाईने ४०-५० लाख का खर्च किया। उसकी शर्त थी **'कही पर भी उसका नाम नहीं आना चाहिये।'** उस भाग्यशाली का नाम हैं-जनकभाई एन. ढड्डा।
- भांडुप के प्रदीपभाई ओली करने के लिए मुलुंड जाते हैं। दो घंटे तक सबकी भक्ति करने के बाद **वे भात और करियाते** से आरंभिल करते हैं।
- पूना टिंबर मार्केट में एक भाई सिर्फ जाडी रोटी व पानी से नौ दिन आरंभिल करते हैं।
- पुत्री के लग्न प्रसंग पर पिता ने अपार संपत्ति भेंट दी, फिर भी पुत्री को खुशी नहीं हुई। पुत्री ने कहलाया 'पिताजी! यहां ससुराल में सब कुछ है परंतु प्रभु की भक्ति के लिए जिनालय नहीं है।'।

पुत्री की इस भावना को जानकर पिता ने बंबई-अहमदाबाद हाईवे उदवाडा में पार्श्वनाथ प्रभु का शिखरबद्ध भव्य जिनालय बनवाया! पुत्री के आनंद का पार न रहा।

- घाटकोपर में १० वर्ष के **ऋषभ** ने सिर्फ एक ही दिन में भक्तामर स्तोत्र संपूर्ण कंठस्थ कर लिया।
- सुरत के धीरुभाई जवेरीने अभिग्रह धारण किया 'जिस दिन सामायिक रह जाय तो १०० रु. का दंड।' पहले वर्ष में २५० दिन सामायिक रह गई। दूसरे वर्ष दंड की रकम १,००० रु. कर दी। फिर भी २५ दिन सामायिक रह गई। तीसरे वर्ष में उन्होंने दंड की रकम १०,००० रु. कर दी।
- पू.आ. श्री भुवनभानुसूरिजी म. की निश्रा में अचलगढ-माउंट आबु की शिबिर में भयंकर आंधी व तुफान चालु हो गया। उस प्राकृतिक आपदा के निवारण के लिए कुमारपाल वी. शाह ने संकल्प किया, **'यदि तुफान शांत हो जाय तो मैं आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूंगा।'**

उनके उस संकल्प के साथ ही वह तुफान शांत हो गया। बाद में कुमारपाल-भाई ने आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार लिया और दीक्षा न ले तब तक मूल से घी विगई का भी त्याग किया।

जवानी में दृष्टिदोष और बुढापे में दोषदृष्टि

मानव प्राणी को देखने के लिए जन्म से ही दो आंखें मिली हैं।

जन्म के समय मानव-शिशु की आंखों में कितनी कोमलता, निर्मलता और पवित्रता होती है!

बालक सबको प्यारा लगता है, क्योंकि उसका हृदय साफ है, उसकी आंखें निर्विकार हैं। उसके नेत्रों में दोष दृष्टि की मलिनता नहीं है।

परन्तु वही मानव शिशु जब धीरे-धीरे बडा होता जाता है, तब उसकी आंखें धीरे धीरे रोग-ग्रस्त बनती जाती हैं।

हाँ! सभी मनुष्यों को आंख के ये रोग लागू पड़ ही जाते हैं, ऐसी बात नहीं है। जो बचपन से ही सावधान हैं, वे इन रोगों से बच जाते हैं और जो असावधान हैं, वे रोग-ग्रस्त बन जाते हैं।

मानव शिशु जब यौवन के प्रांगण में प्रवेश करता है, तब उसकी आंखों में धीरे धीरे एक रोग फैलता जाता है और वह है-दृष्टिदोष का।

जो आंखें पहले पवित्र थी, निर्विकार थी, उन आंखों में अब दृष्टिदोष की बदबू आने लगती है। समय रहते इस रोग का इलाज न किया जाय तो धीरे धीरे यह रोग बढ़ता ही जाता है और वह युवक इस रोग से बुरी तरह से ग्रस्त हो जाता है। वह रात और दिन इस रोग से पीडित हो जाता है। वह जहाँ भी जाएगा-उसकी आंखें स्त्री के रूप दर्शन की प्यासी बनेगी। उसे इस रूपदर्शन से लेश भी तृप्ति नहीं होती है, फिर भी उसकी आंखें उसका पान करती रहती हैं।

दृष्टि दोष से घायल व्यक्ति मल मूत्र और हाड-मांस से भरपूर स्त्री का देहलता में नाना प्रकार की कल्पनाएँ करता है। वह उसके मुख को चन्द्र की उपमा देता है तो कभी कमल की।

दृष्टि दोष के इस भयंकर पाप ने अनेक नवयुवकों के जीवन को बरबाद कर दिया है। मुझे याद आती है उस बिल्वमंगल की। वह था तो भगवे वस्त्रधारी संत महात्मा। एक दिन भिक्षा हेतु शहर की ओर जा रहा था। अचानक उसकी दृष्टि पनघट पर पानी भर रही रूपवती युवा-कन्या पर पड़ी और वह स्तब्ध हो गया। टकटकी नजर से उस रूपवती कन्या के रूप दर्शन का पान करने लगा।

वह भोगी भ्रमर की भांति उस कन्या के मुख कमल के रूप पराग का पान करने लगा ।

किसी कवि ने ठीक ही कहा हैं, 'कौआ रात्रि में नहीं देखता है और उल्लु दिन में नहीं देखता है, परंतु कामान्ध व्यक्ति को तो न दिन में दिखाई देता है और न रात में ।'

उस कन्या को पता लग गया कि यह मेरे रूप का पिपासु बना है, 'अतः मार्ग पतित उस संत को प्रतिबोध देते हुए वह बोल उठी, 'ओ महात्मा ! मेरी ओर टकटकी नजर से देखते हुए आपको शर्म नहीं आती ? इस पवित्र भगवे वेष को क्यों कलंकित कर रहे हो ?'

कन्या के इन शब्दों की बिल्वमंगल पर जादूई असर हुई । उसकी सुषुप्त आत्मा जाग उठी और उसी समय पश्चात्ताप की आग में उसका हृदय जलने लगा । अरे ! इन चर्म नेत्रों से ऐसा भयंकर कोटि का अपराध ! और उसी समय लोहे की सली से उन्होंने अपनी दोनों आंखें फोड़ दी ।

काम का प्रवेश द्वार आंख हैं । वह आंख के द्वार से प्रवेश करता है और सीधा मन पर हमला करता है । मन यदि परास्त हो गया तो उसकी जीत हो जाती हैं और वह व्यक्ति को अपना गुलाम बना देता है ।

- दृष्टिदोष के पाप ने ही रूपसेन का पतन कराया था ।
- महाभारत और रामायण के भयंकर युद्धों के पीछे भी पर-स्त्री की आसक्ति ही मुख्य कारण थी ।
- वर्तमान युवा पीढ़ी में दृष्टि दोष का पाप इतना अधिक व्यापक हो गया है कि इसका इलाज कठिन हो गया है ।

सचमूच ! जिसने अपने यौवन को बेदाग प्रसार कर दिया-उसने अपने जीवन में वास्तविक सफलता हासिल की है ।

★ युवावस्था में दृष्टिदोष के पाप से बचने का अवश्य प्रयास करना चाहिये । इस दोष के नाश से युवक अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकता है ।

युवावस्था का सबसे भयंकर दुर्गुण दृष्टिदोष है तो वृद्धावस्था का सबसे भयंकर दुर्गुण दोषदृष्टि है ।

वय की परिक्वता के साथ आंखें धीरे धीरे कमजोर होने लगती हैं- वृद्धावस्था में 'दोषदृष्टि' का रोग अधिक परिक्व हो जाता है ।

सभी वृद्धों को यह रोग लागू पडता हो, ऐसा कोई नियम नहीं हैं, परंतु अधिकांश वृद्धों में इस रोग की बहुलता दिखाई देती है । जैसे पीत्तिमा रोग से ग्रस्त व्यक्ति को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है, उसी प्रकार दोषदृष्टि के दोष से ग्रस्त व्यक्ति को सर्वत्र दोष ही नजर आता है ।

दोषदृष्टि के दोष के कारण ही वृद्धजन अपने परिवार में अप्रिय बन जाते हैं । कई वृद्धों की यह आदतसी बन जाती हैं कि वे बात बात में टोकते ही रहते हैं । बात बात में भूल निकालते रहते हैं ।

भूल होना मानव का स्वभाव है, परंतु उस भूल की अभिव्यक्ति वात्सल्य, प्रेम और सहानुभूति पूर्वक की जाय तो एक बालक भी अपनी भूल का सहज स्वीकार कर लेगा, परंतु वही भूल जब घृणा पूर्वक बतलाई जाती हैं तो एक बालक में भी आक्रोश पैदा हो जाता है । दोष दृष्टि के नाश के लिए जीवन में गुणदृष्टि को विकसीत करना चाहिये । गुणदृष्टि की चाबी यदि आपके पास है तो आप किसी भी वस्तु में...किसी भी परिस्थिति में गुण देख सकते हैं ।

याद करे कृष्ण महाराजा को ! दुर्गंध फैला रही मरी हुई कुत्ती को देखकर, 'इसके दांत कितने चमकीले हैं ?' बोले थे जीवन में गुणदृष्टि के बिना यह संभव नहीं है ।

दोषदृष्टि वाला व्यक्ति समुद्र में भी उसके खारेपन को देखेगा, उसके तलभाग में रहे रत्नों को नहीं ।

दोष दृष्टिवाला सरोवर में भी कीचड ही देखेगा, उस कीचड के बीच रहे कमल को नहीं ।

दोषदृष्टि वाला गुलाब के छोड पर रहे कांटो को ही देखेगा-उन कांटों के बीच रहे गुलाब को नहीं ।

दोष दृष्टिवाला तो जहां भी जाएगा-उसे दोष, दोष और दोष ही दिखेंगे ।

दूसरों के दोष देखने से...दूसरों की निंदा करने से, वे दोष अपने जीवन में आए बिना नहीं रहते हैं । क्षायोपशमिक भावों के गुणों को नष्ट होने देर नहीं लगती हैं, अतः अपने गुणों का अभिमान न करो और दूसरों की निंदा न करे ।

२७. धर्मपत्नी हो तो ऐसी हो

भारत की आर्य संस्कृति त्याग प्रधान है। इस देश के इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर अनेक त्यागवीरों के उज्ज्वल चरित्र अंकित हैं। इस देश की जैन संस्कृति के त्याग के आदर्श तो समूचे विश्व में सुप्रसिद्ध हैं।

जैन धर्म की आधार शिला ही त्याग-प्रधान है। जैन साधु का जीवन संपूर्ण त्यागमय होता है। जैन दीक्षा के स्वीकार के साथ ही मुमुक्षु बाह्य जगत् का सर्वथा त्याग कर देता है। माता-पिता, पुत्र-पुत्री, काका-मामा-भाई-बहिन-पत्नी आदि समस्त सांसारिक संबंधों को तिलांजलि दे दी जाती है। व्यक्तियों के सांसारिक-संबंधों के त्याग के साथ-साथ जड पदार्थ अर्थात् मकान-दुकान-जमीन-जायदाद आदि के प्रति रहे स्वामित्व को भी छोड़ दिया जाता है।

यदि पूर्व जन्म से वैराग्य के सुदृढ संस्कार हो तो जैन धर्म में ८ वर्ष की लघुवय वाले को भी भागवती दीक्षा के लिए अधिकारी माना गया है।

७-८ वर्ष लघु वय में भागवती दीक्षा का स्वीकार कर महान् प्रभावक आचार्य बने हुए अनेक महापुरुषों के दृष्टांत जैन इतिहास के स्वर्णपृष्ठों पर अंकित हैं।

मानव जन्म की वास्तविक सफलता और सार्थकता, संपूर्ण त्यागमय जीवन जीकर मोक्ष मार्ग की आराधना और साधना करने में ही रही हुई हैं और इसीलिए जिनेश्वर भगवंतों ने सर्व प्रथम संपूर्ण त्यागमय साधु धर्म का उपदेश दिया है।

जो आत्माएँ इस संपूर्ण त्यागमय साधु धर्म का स्वीकार करने में असमर्थ हैं, उनके लिए श्रावक धर्म-अर्थात् आंशिक त्याग धर्म का मार्ग बतलाया है। श्रावक जीवन अर्थात् अर्थ और काम का सर्वथा त्याग नहीं किंतु अर्थ और काम पर नियंत्रण रखने वाला जीवन।

अर्थ पर नियंत्रण के लिए न्याय-नीति और परिग्रह-परिमाण का विधान किया गया है।

सर्व विरति को अपने जीवन का आदर्श रखने वाले श्रावक का जीवन भी अन्य सद् गृहस्थों के लिए एक आदर्श जीवन होता है।

ऐसे युगल श्रावक-श्राविका (पति-पत्नी) के जीवन को देखकर अनेकों

को सदाचार प्रधान जीने की प्रेरणा मिलती है।

आर्य संस्कृति में लग्न-विधान, भोगों के पोषण के लिए नहीं किंतु भोग पर नियंत्रण के लिए ही है।

जैन धर्म के सुसंस्कारों से सुवासित बनी सन्नारियों का जीवन भी अत्यंत प्रेरणा स्वरूप होता है। एक सन्नारी स्त्री अपनी संतानों में तो धर्म संस्कारों का सिंचन करती ही हैं, इसके साथ ही वह अपने पति को भी धर्मारोधना में पूरक बनती है। दुर्भाग्य से यदि पति सद्धर्म से वासित न हो तो वह बहुत कुछ सहन करके भी अपने पति को सन्मार्ग में जोड़ने और सन्मार्ग में स्थिर करने का प्रयास करती है।

अपने पति को सन्मार्ग की साधना में सहायक बनने वाली स्त्री ही वास्तव में धर्मपत्नी कहलाने की अधिकारिणी है।

इतिहास के पन्नों पर ऐसी धर्मपत्नियों के त्यागमय पवित्र जीवन के महान् आदर्श आज भी पढ़ने को मिलते हैं।

मुझे याद आती है धर्मपत्नी मदनरेखा की !

मदनरेखा के अद्भुत रूप और लावण्य को देखकर मणिरथ एकदम कामांध बन चूका था। येन केन उपाय से वह मदन रेखा को पाने के लिए अत्यंत ही लालायित हो उठा था। मदनरेखा को पाने के लिए अपने छोटे भाई युवराज युगबाहु की हत्या जैसे के निकृष्ट कार्य को करने के लिए भी वह तैयार हो गया था।

...और एक दिन एकांत अवसर देखकर मणिरथ ने युगबाहु की छाती में छूरी भोंक ही दी।

छूरी भोंककर मणिरथ तो भाग गया, किंतु युगबाहु भूमि पर गिर पड़ा। छूरी का घाव इतना गहरा था कि युगबाहु के बचने की कोई उम्मीद नहीं थी।

युगबाहु मरणासन्न अवस्था में था। युगबाहु भी क्रोधातुर बन गया था। परंतु उस समय मदनरेखा ने अपना 'पतिव्रता धर्म' निभाया। असमाधि-ग्रस्त अपने पति को समझा बुझाकर समाधि प्रदान की और इस समाधि के फल स्वरूप युगबाहु मरकर ५ वें ब्रह्म देवलोक में देव बने।

महासती मदनरेखा ने अंतिम समय में अपने पति को समाधि नहीं दी होती तो उनकी दुर्गति हुए बिना नहीं रहती।

२८. क्रोध के तात्कालिक फल

- १) भोजन की रुचि समाप्त हो जाती है। गुस्से में रहे व्यक्ति को खाना अच्छा नहीं लगता है।
- २) क्रोध करने पर मुख पर की सौम्यता चली जाती है। उसका चेहरा भयंकर लगता है। क्रोध आने पर व्यक्ति एक बार दर्पण में अपना मुंह देख ले तो वह खुद शर्मिंदा हो जाएगा।
- ३) क्रोध आने पर बातचीत में रही सौजन्यता नष्ट हो जाती है। किसके सामने क्या बोलना चाहिये और क्या नहीं बोलना चाहिये ? यह विवेक क्रोधी व्यक्ति को नहीं रहता है।
- ४) क्रोध आने पर व्यक्ति अपने से बड़ों का विनय चुक जाता है। बड़ों के सामने भी नहीं बोलने के शब्द बोल जाता है। भले ही उसे बाद में पछताना क्यों न पड़े।
- ५) क्रोध चित्त की प्रसन्नता को नष्ट कर देता है। समुद्र के जल में खारेपन के अभाव की आशा रखना बेकार है, उसी प्रकार क्रोध के अस्तित्व में चित्त प्रसन्नता की आशा रखना बेकार है।
- ६) क्रोध वैर भाव पैदा करता है। जैसे-फ्रीज में रहा पानी बर्फ में बदल जाता है, उसी प्रकार मानवी के मन में रहा क्रोध वैर में रुपांतरित हो जाता है।
- ७) पडे रहे मुर्दे में दुर्गंध बढ़ती है, उसी प्रकार मन में क्रोध को संग्रहित कर रखा जाय तो क्रोध की कटुता तीव्र होती जाती है।
- ८) क्रोध से वैर वृत्ति दृढ बनती है। वैर वृत्ति से जीवन में हिंसा पैदा होती है। जहां वैर वृत्ति है, वहां पाप का बगीचा हराभरा रहता है।
- ९) बालक का गुस्सा क्षण जीवी होता है। अपनी माँ को लाते मारने तक का गुस्सा करने के बाद वो ही बालक माँ की गोद में आराम से सो जाता है, क्योंकि उसने सिर्फ गुस्सा किया है, उस गुस्से का मन में संग्रह नहीं किया है। जब कि प्रौढ व्यक्ति का गुस्सा लंबे समय तक चलता है, क्योंकि वह उस गुस्से को मन में संग्रहित करता है और अवसर आने पर उसका बदला लेना चाहता है।

२९. चिंतन-मोती

- १) व्यक्ति की उम्र बढ़ती है, लेकिन उम्र बढ़ने के साथ जीवन में से निर्दोषता गायब होती जाती है। उम्र के साथ शरीर भले ही बढ़े, परन्तु मन तो बालक सा ही रहना चाहिये। आश्चर्य है कि वय की वृद्धि के साथ मन भी मायावी-कपटी बनता चला जाता है।

★ आज व्यक्ति को घर बड़ा चाहिये। उसे बड़ा फ्लैट, बड़ा बंगला ही पसंद है, परन्तु आश्चर्य है कि वह अपने दिल को छोटा रखने में ही राजी है। हृदय को विशाल बनाने में वह प्रयत्नशील नहीं है।

★ आर्द्र भूमि में ही वृक्ष हरा भरा रह सकता है, उसी प्रकार जिसके हृदय में आर्द्रता-कोमलता है, उसी व्यक्ति का जीवन हराभरा रह सकता है।

★ क्रोधी व्यक्ति के शरीर में ताकत आ जाती है, परन्तु उसका मन तो कमजोर ही होता है। जिसका मन बलवान् है, ऐसा व्यक्ति ही क्षमा रख सकता है। दूसरों के अपराधों को क्षमा करने के लिए मन का मजबूत होना जरूरी है।

★ मध्याह्न के सूर्य के सामने देखने पर मुंह विकृत हो जाता है, उसी प्रकार क्रोध में भी मनुष्य के मुख की प्रसन्नता गायब हो जाती है।

★ कर्तव्य के बजाय अधिकार के लिए लड़नेवाला व्यक्ति गुस्सा किए बिना नहीं रहता है।

★ क्रोध के दुश्मन बनो, परन्तु यह संभव न हो तो कम से कम क्रोध से दोस्ती तो नहीं होनी चाहिये।

★ क्रोध का संपर्क भी खतरे से खाली नहीं है तो उसकी दोस्ती कितनी भयंकर होगी ?

जरा अपने जीवन को टटोले-क्रोध के साथ मात्र संपर्क है या दोस्ती ?

★ समुद्र का जल अपनी मर्यादा में रहता है, परन्तु आग को अपनी मर्यादा नहीं होती है, वह सबको जलाती है, बस, क्रोधी व्यक्ति भी सबको जलाता है।

हृदय में किसी के प्रति द्वेष भाव हो तभी बाह्य जगत् में शत्रु के दर्शन होते हैं। जिसके हृदय में द्वेष नहीं, उसका जगत् में शत्रु नहीं।

आप अपने हृदय में से क्रोध को निकाल दो, आपका जीवन हिमालय

की भांति शीतल बन जाएगा ।

दूसरों के दोषों की उपेक्षा करनेवाला व्यक्ति ही अपने जीवन में समाधि, सद्गति और मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

★ क्रोध का मूल अहंकार है । व्यक्ति के अहंकार पर जब चोंट लगती हैं, तब तुरंत गुस्सा पैदा हो जाता है ।

जीवन यह तो मौत की ओर निरंतर गमन का ही पर्याय है ।

★ वास्तविक धर्म वो ही हैं, जिससे अपने हृदय में रही हुई राग-द्वेष की वृत्तियाँ शांत होती जाय ।

रोग मुक्ति बनने की इच्छा रखनेवाला दर्दी डॉक्टर के पास अपने रोग का स्वीकार करता है, उसी प्रकार आत्म-शोधन के इच्छुक मुमुक्षु को अपने जीवन में रहे दोषों का स्वीकार गुरु के सामने करना ही चाहिये ।

★ जो अपने जीवन में रहे दोषों का स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं, उसके जीवन की शुद्धि कभी संभव नहीं है ।

जो व्यक्ति छ मास तक नमक नहीं खाता है, उसे सांप का जहर भी नहीं चढ़ता है । जो व्यक्ति अपने जीवन में छ मास तक निरंतर क्रोध को नियंत्रण में रख दे, उसका जीवन बाग आराधना के पुष्पों से सुगंधित हुए बिना नहीं रहता है ।

★ क्रोध की आधार-शिला, अधीरता है ।

क्रोधी व्यक्ति शरीर की स्वस्थता, मन की प्रसन्नता और आत्मा की शांति को खो देता है ।

★ क्रोधी व्यक्ति विनय और विवेक उभय से भ्रष्ट बनता है, परिणाम स्वरूप विनाश को आमंत्रण देता है ।

★ शक्ति, सम्पत्ति और सत्ता के साथ यदि सद्बुद्धि न हो तो ये तीनों चीजें वरदान बनने के बजाय अभिशाप रूप बन जाती है ।

शुष्क घास में आग जल्दी फैलती है, उसी प्रकार शुष्क हृदय में क्रोध की आग जल्दी बढ़ती है ।

पाप का प्रवेश पहले मन में होता है, फिर वचन व काया में आता है ।

'क्रोधी के आंख, आगे नहीं बल्कि पीछे होती है' इसका तात्पर्य है क्रोधी पहले गुस्सा करता है, फिर उसके परिणाम के बारे में सोचता है ।

३०. कुतर्क

ट्रेन में नीचे की सीट पर बैठा हुआ युवक सिगरेट का धुआँ छोड़ने लगा । ऊपर बैठे हुए भाई ने कहा, 'सिगरेट के धुएँ से मुझे तकलीफ होती है, आप कृपया सिगरेट का धुआँ खिडकी के बाहर फेंके ।

उस युवक ने जवाब दिया, 'इसमें मेरा क्या दोष है, ऊपर उठना यह तो धुएँ का स्वभाव है ।'

'अच्छा ! ठीक हैं' इतना कहकरा ऊपर बैठे युवक ने गिलास में से पानी नीचे डाला ।

ऊपर से पानी आने पर नीचे बैठे युवक ने चिल्लाया 'क्या कर रहे हो ?'

ऊपर वाले ने जवाब दिया मैं क्या करूँ, नीचे की ओर बहना यह तो पानी का स्वभाव है ।

बस, नीचेवाले की अक्कल ठिकाने आ गई ।

३१. शुभ का अनुबंध जोड़ी अशुभ का अनुबंध तोड़ी

बार बार शुभ क्रिया करने से शुभ का अनुबंध दृढ़ बनता है और अशुभ क्रिया करने से अशुभ का अनुबंध दृढ़ बनता है । रोग निवारण के लिए औषध के सेवन के साथ अपथ्य का त्याग भी जरूरी है, उसी प्रकार कर्म रोग के निवारण के लिए शुभ के अनुबंध को जोड़ने के साथ अशुभ के अनुबंध को तोड़ने की भी आवश्यकता है । अतः जीवन में शुभ क्रियाओं में वृद्धि के साथ साथ अशुभ क्रियाओं का त्याग भी जरूरी है । कई लोग शुभ क्रियाएँ कर लेते हैं, परन्तु अशुभ क्रियाओं का त्याग नहीं करते हैं । पूजा चालू की परन्तु बाद में टी.वी. बंद नहीं किया । पर्युषण में अट्टाई की परन्तु होटल में जाना बंद नहीं किया । महापुरुषों का गुणानुवाद किया परन्तु दूसरों की निंदा नहीं छोड़ी ।

३२. धर्म कार्य में विलंब न करे

एक हजाम अपनी दुकान में सेठ की दाढ़ी बना रहा था। आधी दाढ़ी साफ की... इस बीच एक भिखारी आकर भीख मांगने लगी। हजाम ने दाढ़ी का काम बीच में छोड़कर गल्ले में से उसने उस भिखारी को १ रु. दे दिया। भिखारी आगे बढ़ गया। हजाम के इस वर्तन से सेठ को बड़ा आश्चर्य हुआ।

सेठ ने कहा, 'भिखारी को बाद में रुपया दे देते, बीच में छोड़कर क्यों गए ?'

हजाम ने कहा, 'सेठजी ! यह तो पुण्य का अवसर हाथ लगा, इसमें विलंब क्यों करना चाहिये ?'

३३. चलो ! दृष्टि बदले !

दृश्य को बदलना अपने हाथ में नहीं है, परन्तु दृष्टिकोण को बदलना अपने हाथ में है। निषेधात्मक दृष्टिकोण व्यक्ति को हताश किए बिना नहीं रहता है।

शरीर पर आए कष्ट को मन तक पहुँचने न दे। यदि मन बीमार पड़ गया तो शरीर भी बीमार पड़ जाएगा। मन यदि स्वस्थ रहा तो शरीर की बीमारी भी आपको कष्ट रूप नहीं लगेगी।

३४. मर्यादा पालन में ही रक्षण है

वीणा की शोभा उसके कसे हुए तारों में है। एक भी तार टूट गया तो उस वीणा का संगीत खत्म हो जाएगा।

नदी की शोभा उसके किनारों के कारण है। किनारा यदि टूट गया तो वह नदी विकराल बने बिना नहीं रहेगी।

समुद्र की शोभा उसकी मर्यादा में है, जिस दिन समुद्र अपनी मर्यादा तोड़ देगा, उस दिन विनाश हुए बिना नहीं रहेगा।

बस, मानव जीवन की शोभा भी मर्यादाओं के पालन में ही है।

३५. साधना सतत करे

कोई भी धर्म साधना प्रारंभ की जाती है, तब कठिन लगती है, परन्तु जब वो ही साधना रोज की हो जाती है तो अत्यंत सरल बन जाती है।

जीवन में पहली बार उपवास करने पर संभव है, उस उपवास में पित्त चढ़ जाय, वमन हो जाय, सिर दर्द हो जाय... परन्तु इतने मात्र से हताश होने की जरूरत नहीं है। वो ही उपवास दूसरी बार करने पर संभव है उसमें से बहुत सी पीड़ाएँ गायब हो सकती है।

कोई भी धर्म साधना जब रसपूर्वक और निरंतर की जाती है, तब वह अत्यंत ही सरल व सुगम बन जाती है।

संसार

यह संसार तो चिकनी मिट्टीवाले तालाब की भांति है। चिकनी मिट्टी में फिसलने की पूरी पूरी संभावना रहती है। वहां तो पूर्ण सावधान व्यक्ति ही आगे बढ़ सकता है, उसी प्रकार इस संसार में चारों ओर राग, मोह व अज्ञानता की चिकनी मिट्टी फैली हुई है। अत्यंत सावधान ज्ञानी ही बच सकता है। बाकी तो पतन होते थोड़ा भी समय नहीं लगता है।

संसार में आत्म गुणों की कतल प्रतिपल चालू ही है।

दोष

इस देह में उत्पन्न हुआ रोग मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है। किंतु इस जीवन में किए गए दोषों का सेवन भवांतर में भी साथ में चलते है।

अतः रोग से भी दोष ज्यादा भयंकर है। परंतु अफसोस ! जितनी चिंता रोग-नाश की है, उतनी चिंता दोष-नाश की नहीं है।

३६. भव आलोचना

शरीर के किसी भाग में गांठ का बढ़ना प्रारंभ हो जाय तो तुरंत ही डॉक्टर एक्सरे, एंजोग्राफी, सोनोग्राफी, सिटीस्केनिंग आदि द्वारा बॉडी चेक Body Check कराने की सलाह देते हैं और इस बात का पता लगाने की कोशिश करते हैं कि यह गांठ कैंसर की तो नहीं है। कैंसर की गांठ का पता चलते ही डॉक्टर ओपरेशन की सलाह देता है।

पेट, गले या अन्य किसी भाग में कैंसर की गांठ हो तो उसका आपरे-शन किए बिना छुटकारा नहीं है।

आपरेशन अर्थात् शल्योद्धार-रोग को निर्मूल करना। बुखार, सिर दर्द, जुलाब लगना, सामान्य घाव आदि कुछ दर्द ऐसे होते हैं जो सामान्य ट्रीटमेंट-छोटी-मोटी दवाई, इंजेक्शन आदि से मिट जाते हैं, परन्तु एक किडनी Fail हो गई हो...पेट में बार बार शूल की वेदना हो रही हो, आँख पर मोतिया बिंदु आ गया हो, कान का पर्दा खराब हो गया हो...आदि आदि प्रसंगों में आपरेशन द्वारा ही रोग को निर्मूल किया जाता है।

बस, इसी प्रकार आत्मा में पैदा हुए सामान्य रोगों का इलाज सामान्य धर्म आराधनाओं से हो जाता है...परन्तु कुछ रोग ऐसे होते हैं, जिनका आपरे-शन किए बिना छुटकारा नहीं है।

यौवन के उन्माद में, मोह-मस्ती और अज्ञानता के कारण जीवन में कुछ ऐसे-ऐसे पाप हो जाते हैं, जिनका आपरेशन अनिवार्य हो जाता है। यदि उन पापों का शीघ्र शल्योद्धार नहीं किया जाय तो वे पाप कैंसर की गांठ की तरह दीन-दूने रात-चौगुने बढ़ते ही जाते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप आत्मा को अनंत काल तक संसार परिभ्रमण की भयंकर यातनाएँ सहन करनी पड़ती है।

भूतकाल में अज्ञानतावश अपनी आत्मा ने भयंकर पाप किए और उसके परिणाम स्वरूप नरक-तिर्यच गति की भयंकर वेदनाएँ भी सहन की।

महान् पुण्योदय से हमें यह मानव जन्म प्राप्त हुआ है, अब बुद्धिमत्ता इसी में है कि इस जीवन में उन भूलों का पुनरावर्तन नहीं करे।

ठीक ही कहा है-

'जो भूल कर हंस पड़े उसे शैतान कहते हैं-

जो भूलकर सीख जाय उसे बुद्धिमान कहते हैं।'

जानते-अजानते हुई भूलों के भयंकर परिणाम को जानने के बाद भी जो

भूलें करता ही जाता है, उसे तो शैतान ही कहा जाएगा।

मानव मात्र भूल का पात्र है, जब तक छद्मस्थ अवस्था है, तब तक भूल होने की संभावना है, परन्तु भूल हो जाने के बाद जो उसे स्वीकार कर लेता है, अपनी भूल को गलत मानने के लिए तैयार हो जाता है, अपनी भूलों के पश्चात्ताप के लिए जो तैयार रहता है, उस आत्मा का उद्धार अवश्य होता है।

गीतार्थ गुरु भगवंत के चरणों में उपस्थित होकर उनके आगे अपने जीवन में हुए समस्त पापों का स्वीकार करना उसी को **'भव-आलोचना'** कहा जाता है।

'भव आलोचना' यह आत्मा के शल्योद्धार की अनुपम प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में से पार हुई आत्मा पाप के भार से एकदम हल्की हो जाती है।

जो आत्मा भव-आलोचना नहीं करती है, उस आत्मा को वे पाप शल्य की भांति पीडा करते रहते हैं।

३७. पाप त्याग भी अनिवार्य है।

शुभ में प्रवृत्ति के साथ साथ अशुभ से निवृत्ति भी अनिवार्य है जीव-अजीव आदि नौ तत्वों में पाप हेय (त्याज्य) तत्व है और पुण्य उपादेय तत्व है।

रोग निवारण के लिए मात्र औषध का सेवन ही पर्याप्त नहीं है, परन्तु उसके साथ-साथ अपथ्य का त्याग भी जरूरी है।

सर्दी का दर्दी सर्दी मिटाने के लिए दवाई भी लेता रहे और आईस्क्रीम-दही-बर्फ का सेवन भी चालू रखे तो क्या उसकी सर्दी मिट सकती है ? कदापि नहीं।

यदि सर्दी को मिटाना है तो सर्दी की दवाई के साथ साथ आईस्क्रीम आदि को भी छोड़ना जरूरी है।

पथ्य का पालन करे किंतु अपथ्य का त्याग न करे तो रोग का निवारण शक्य नहीं है, उसी प्रकार आत्म कल्याण के लिए एक ओर पुण्य की प्रवृत्ति करे तो दूसरी ओर पाप की प्रवृत्ति का त्याग भी जरूरी है।

'आवश्यक निर्युक्ति' में ठीक ही कहा है-

'हिताप्रवृत्ते अहित प्रवृत्तिः गुरु-संसार-कारणम्'

हित में अप्रवृत्ति की अपेक्षा अहित में प्रवृत्ति यह संसार-परिभ्रमण का

मुख्य कारण है ।

जिन जिन प्रवृत्तियों से आत्मा का अहित होता हो, उन प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग किए बिना सिर्फ आत्म हितकर प्रवृत्तियों के आचरण से आत्म कल्याण संभव नहीं है ।

-हितकारी प्रवृत्तियों के आचरण की अपेक्षा अहितकारी प्रवृत्तियों का त्याग अत्यंत कठिन है ।

★ दान देना सरल है किंतु व्यापार में अनीति का त्याग करना कठिन है ।

★ उपवास-अडवाई कर लेना सरल हैं, किंतु रात्रि भोजन का त्याग करना कठिन है ।

★ प्रभु-पूजा का नियम करना सरल हैं, किंतु थियेटर में नहीं जाने का नियम करना कठिन है ।

★ ९ दिन आयंबिल करना सरल है किंतु कभी भी होटल में नहीं जाने का नियम करना कठिन है ।

★ हर सप्ताह प्रभु-भक्ति में जाने का नियम करना सरल हैं किंतु नव रात्रि के गरबा व डिस्को डांस का त्याग करना कठिन है ।

दूध-पाक के भोजन में एठा झूठा डालने से दूध-पाक की मजा मारी जाती है, बस, उसी प्रकार शुभ-प्रवृत्तियों के साथ यदि अशुभ प्रवृत्तियां भी चालू रखी जाय तो जो आनंद आना चाहिये, वह आनंद प्राप्त नहीं हो पाता है ।

शुभ में प्रवृत्ति के साथ-साथ अशुभ से निवृत्ति भी उतनी ही जरूरी है ।

जिस आत्मा में विवेक का प्रकाश पैदा होता है वह आत्मा कभी भी आत्मा के लिए अहितकर पाप प्रवृत्तियों में मस्त नहीं बनती है ।

हित में भी प्रवृत्ति और अहित में भी प्रवृत्ति यह तो अज्ञानता का ही प्रतीक है ।

जो आत्माएँ आत्मा के लिए अहितकर ऐसी पाप प्रवृत्तियों के त्याग की इच्छा भी नहीं रखती हैं और खूब चाव से वे प्रवृत्तियाँ करती हैं, उन आत्मा के द्वारा की गई शुभ प्रवृत्ति भी एक मात्र दिखावा ही होती है ।

आत्म कल्याण के इच्छुक विवेकी आत्माओं को शुभ में प्रवृत्ति करनी चाहिये और अशुभ से निवृत्ति लेनी चाहिये ।

३८. सुख भीतर है ।

विषयों में सुख की कल्पना अज्ञानता का प्रतीक है ।

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म. ने 'समता शतक' में कहा हैं-

'चाटे निज लाला मिलित, शुष्क हाड ज्युं श्वान ।

तैसे राचे विषय में, जड निजरुचि अनुमान ॥'

बिचारा, अज्ञानी कुत्ता ! अचानक उसे कहीं पर हड्डी का टुकड़ा दिखाई पडता है और तुरंत ही उसे अपने मुंह में लेकर चबाना प्रारंभ कर देता है । हड्डी के टुकड़े में से उसे कुछ भी स्वाद की प्राप्ति नहीं हो पाती है, किंतु वह ज्यों ज्यों उस हड्डी के टुकड़े को चबाता जाता है, त्यों-त्यों उसके जबड़ों में से ही खून निकलने लगता है, बस, उसी खून का उसे स्वाद आता है और वह मान लेता है कि मुझे इस हड्डी के टुकड़े में से खुन मिल रहा है । इस भ्रांति के कारण उसे मिलता तो कुछ भी नहीं है, परंतु वह बहुत कुछ खोती ही है ।

बस, इसी प्रकार पांच इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि विषयों में यद्यपि सुख का नामोनिशान नहीं होता है, परन्तु मोह की पराधीनता और अज्ञानता के कारण यह जीव पांच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त बनता है और वह यह मान लेता है कि मुझे पांच इन्द्रियों के विषयों में से सुख की प्राप्ति हो रही है, वास्तव में देख जाय तो पांच इन्द्रियों के शब्द आदि विषय जड़ स्वरूप है, उनमें न तो सुख देने की ताकत है और न ही दुःख देने की ।

किंतु अज्ञानता के कारण जीव यह मान लेता है कि मुझे इन विषयों में से सुख की प्राप्ति हो रही है ।

यदि उन बाह्य पदार्थों में सुख देने की ताकत होती तो उन विषयों के उपभोग के साथ-साथ सुख में भी अभिवृद्धि होनी चाहिये, जब कि हमारा यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि उन विषयों के निरंतर सेवन से उन्हीं विषयों के प्रति हमारे दिल में घृणा पैदा हो जाती है । कल जो विषय अच्छे लग रहे थे, आज वो ही विषय घृणास्पद हो जाते हैं ।

आज जिस मीठाई में आनंद आ रहा है, उसी मीठाई को अत्यधिक प्रमाण में खाने पर वो ही मीठाई दुःख का कारण बन जाती है । आज जिस मीठाई के लिए हम तरस रहे हैं, ८ दिन तक वो ही मीठाई खाने पर उसी मीठाई के प्रति हमारे दिल में घृणा पैदा हो जाती है ।

अतः स्पष्ट है कि सुख बाह्य साधनों में नहीं है, सुख आत्मा के भीतर रहा हुआ है ।

३९. मोह का गाढ अंधकार

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म. ने **समाधि-शतक** में लिखा हैं-
**'नहि कछु इन्द्रिय विषय में, चेतन कुं हितकार ।
तो भी जन तामे रमे, अंधो मोह अंधार ।'**

आखों में अपूर्व तेज हो किंतु बाहर गाढ अंधकार छाया हुआ हो तो कुछ भी दिखाई नहीं देता है । देखने के लिए मात्र आंख ही पर्याप्त नहीं हैं, आंख के साथ-साथ बाहर प्रकाश भी होना जरूरी है ।

अमावस्या की घोर अंधेरी रात्रि में जब चारों ओर गाढ अंधेरा छाया हुआ हो, उस समय सामने खड़ा हुआ व्यक्ति भी हमें दिखाई नहीं देता है, परंतु उसी समय दीपक प्रज्वलित किया जाय तो वह अंधेरा तत्क्षण दूर हो जाता है, और सब कुछ व्यवस्थित दिखाई देता है ।

बस, इसी प्रकार जब आत्मा में मोह का गाढ अंधकार छाया हुआ होता है, तब आत्मा को आत्म-हितकर प्रवृत्ति का बोध नहीं हो पाता है ।

बाह्य अंधकार से भी मोह का अंधेरा अत्यंत ही खतरनाक है । बाहर का अंधेरा तो बाह्य वस्तु को देखने में ही बाधक / प्रतिबंधक होता है, जब कि आत्मा पर मोह का गाढ अंधेरा छाया होता है, तब यह आत्मा अपना भान ही खो देती है । उसे अपने हित-अहित का कोई भेद नहीं होता है, इसके परिणाम स्वरूप वह हित में प्रवृत्ति करने के बजाय अहित में ही प्रवृत्ति करती रहती है ।

पांच इन्द्रियों के विषयों में सुख का नामोनिशान नहीं हैं, परंतु मोह के नशों के कारण आत्मा को उन विषयों में सुख की कल्पना होती है, इसके फल स्वरूप वह आत्मा उन विषयों में ही सतत प्रवृत्तिशील बनती है ।

मोह का नशा तो शराब के नशे से भी अधिक खतरनाक है । शराब का नशा कुछ घंटों बाद उतर जाता है, किंतु मोह का नशा तो जन्मो-जन्म तक आत्मा के साथ रहता है ।

शराबी तो शराब के नशे के कारण एक ही जीवन को बर्बाद करता है, जब कि मोह के नशे में चकचूर व्यक्ति तो अपने अनेक जन्मों को बरबाद कर देता है ।

मोह के नशे के कारण आत्मा को सदैव विपरीत प्रवृत्ति करने में ही आनंद आता रहता है ।

मोह के कारण आत्मा में एक ऐसी भ्रांति पैदा होती है कि जिस भ्रांति के

कारण, जिन पदार्थों में सुख नहीं हैं, उन पदार्थों में आत्मा को सुख के दर्शन होते हैं, परिणाम स्वरूप उन्हीं क्षणिक-नाशवंत पदार्थों को पाने के पीछे आत्म पागलसी बन जाती है ।

४०. प्रार्थना

श्री सिद्धर्षि गणि की यह सुंदर प्रार्थना हैं-

'अनाद्यभ्यासयोगेन, विषयाशुचि-कर्दमे ।

गते शुकर-संकाशः याति मे चटुलं मनः ॥

न चाहं नाथ ! शक्नोमि, तन्निवारयितुं अलं ।

अतः प्रसीद तद् देव ! देव ! वारय ! वारय ॥

हे दयालु परमात्मा ! हे प्रभो ! मुझ पर कृपा करो !!

अनादिकाल के अभ्यास के कारण सुअर की तरह मेरा चंचल मन विषय रूपी अशुचि के कींचड में जाता रहता है । हे नाथ ! उस चंचल मन को रोकने की मुझ में शक्ति नहीं है, अतः आप मुझ रंक पर कृपा करे और उसे विषय रूपी अशुचि में जाने से रोके ।

आत्मा शुद्ध-स्फटिक की तरह अत्यंत ही निर्मल और शाश्वत है । आत्मा स्वयं अनंत गुणों की खान है । आत्मा स्वयं सुखमय है ।

आत्म-स्वभाव में लग्न आत्मा को सुखानुभूति के लिए बाह्य जड़ पदार्थों की लेश भी अपेक्षा नहीं होती है, वह अपने मूलभूत स्वभाव से ही परम सुख की अनुभूति कर सकती है, परन्तु आश्चर्य है कि अनादिकाल के विपरीत अभ्यास के कारण यह आत्मा...यह मन...विषय रूपी गंदगी में आलोटने की कोशिश करता रहता है ।

अनादिकाल से यह आत्मा मोह की मदिरा के पान के कारण जगत् के यथार्थ स्वरूप को जान नहीं पा रही हैं...इसी के परिणाम स्वरूप ज्ञानी महा-पुरुष पांच इन्द्रियों के विषयों में अशुचि गंदगी के दर्शन करते हैं, उन्हीं विषयों में यह मोहाधीन आत्मा सुख के दर्शन करती है ।

**साबून लगाने से कपडे एवं शरीर का
मैल साफ होता है, जब कि पाप के तीव्र
पश्चात्ताप से मन का मैल साफ होता है ।**

४१. आवश्यकता—अनुकूलता—विलासता

Useable Suitable Fashionable

आत्मा का मूल भूत स्वभाव अणाहारी-अशरीरी है। परंतु जो आत्मा कर्मबद्ध हैं, उसे इस संसार में जन्म लेना ही पड़ता है। जन्म के साथ ही आत्मा को आहार व शरीर का भूत लग ही जाता है।

आत्मा संसार में रहे और शरीर तथा आहार बिना रह सके, यह बात असंभव है।

संसारी आत्मा को शरीर धारण करना ही पड़ता है और शरीर टिकाने के लिए आहार आदि के अनेक पाप करने ही पड़ते हैं।

जिनेश्वर भगवंत के द्वारा निर्दिष्ट 'श्रमण जीवन' एक ऐसा जीवन है कि व्यक्ति आराम से अपने जीवन को प्रसार कर सकता है, फिर भी उसे अपने जीवन में आहार आदि के लिए एक भी पाप करना नहीं पड़ता है।

एक गृहस्थ को अपना जीवन व्यतीत करने के लिए अनेक प्रकार के पाप करने ही पड़ते हैं। उन पापों को हम तीन भागों में सकते हैं।

कुछ पाप ऐसे होते हैं, जिन्हें शरीर को टिकाने के लिए करने ही पड़ते हैं। कुछ पाप अनुकूलता पाने के लिए किए जाते हैं। और कुछ पाप ऐसे होते हैं जो विलासिता के नाम पर किए जाते हैं।

भूख मिटाने के लिए भोजन चाहिये।

प्यास मिटाने के लिए पानी चाहिये।

तन ढंकने के लिए वस्त्र चाहिये।

सोने के लिए बिस्तर चाहिये।

श्वास लेने के लिए हवा चाहिये।

हवा, पानी, भोजन, वस्त्र आदि शरीर की आवश्यकताएँ हैं, अतः उनके लिए जो पाप किए जाते हैं, वे अनिवार्य हैं। उन पापों से बचना गृहस्थ के लिए शक्य नहीं है।

परंतु कुछ पाप ऐसे होते हैं, जो अनुकूलता के लिए किए जाते हैं।

रोटी-शाक शरीर की आवश्यकता हैं, परंतु सर्दी लग गई हो तो सूट आदि गर्म पदार्थ भी जरूरी हो जाते हैं। तन ढंकने के लिए कपड़ा चाहिये, किंतु भयंकर सर्दी हो तो सामान्य महीन वस्त्र से काम नहीं चल पाता है, उस समय गर्म वस्त्र का उपयोग भी अनिवार्य हो जाता है।

गर्मी लगी हो...शरीर प्रतिकूल हो तो फल आदि ठंडे पदार्थों का सेवन भी अनिवार्य हो जाता है। उन सब सामग्रियों के लिए जो पाप किए जाते हैं, वे अनुकूलता के पाप हैं।

आवश्यकता व अनुकूलता के लिए किए जाने वाले पापों से बचना कठिन है, परंतु आज दुनिया में बहुत सारे पाप एक मात्र विलासिता-मोज-मजा के लिए हो रहे हैं।

★ भोजन तो टेस्टफूल ही चाहिये-भोजन के साथ मिठाई नमकीन चटनी भी चाहिये इसे कहते हैं विलासिता।

★ कपड़े तो फेशनबल ही चाहिये। भले ही कीमती हो किंतु न्यु मोडर्न डिजाइनवाले ही वस्त्र चाहिये-इसे कहते हैं विलासिता।

★ सोने के लिए तो A.C. ही चाहिये। बिस्तर तो डनलप की गद्दीवाला ही चाहिये।

गर्मी के दिनों में मटके का ठंडा पानी जरूरी है, ज्यादा गर्मी हो नींबू का शर्बत अनिवार्य है...परंतु गर्मी दूर करने के लिए आईस्क्रीम, बर्फ, कोकाकोला आदि अभक्ष्य पेय विलासिता में ही आते हैं।

आटा तो केप्टन कुक का ही चाहिये।

कपड़े धोने के लिए तो वाशिंग मशीन ही चाहिये।

पेन तो पायलोट की ही चाहिये।

पेंट तो जींस का ही चाहिये। इत्यादि वस्तुएँ विलासिता में आती हैं।

आज दुनियाँ में विलासिता के पाप खूब बढ़ गए हैं। उन पापों की पूर्ति के लिए बेईमानी, अनीति, मिलावट तथा माप-तोल में गडबड आदि के पाप बढ़ते ही जा रहे हैं।

४२. लोभ

कोउ सयंभूरमण को, जे नर पावे पार,

सो भी लोभ समुद्र को, लहे न मध्य प्रचार।

चौदह राजलोक रूप विश्व के बीच में मध्यलोक आया हुआ है। इस मध्यलोक के बीच में जंबुद्वीप आया हुआ है, इस जंबुद्वीप के चारों ओर वर्तुलाकार एक द्वीप-एक समुद्र आए हुए हैं। इस प्रकार मध्यलोक में कुल असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र आए हुए हैं। सभी द्वीप व समुद्रों का व्यास

दुगुना दुगुना होता जाता है। जैसे जंबुद्वीप का व्यास १ लाख योजन है तो लवण समुद्र का व्यास दो लाख योजन है। असंख्य द्वीप-समुद्रों के बाद अंत में स्वयं भूरमण समुद्र आया हुआ है, जिसका व्यास असंख्य योजन का है। इस समुद्र को भूजा के बल से पार पाना अत्यंत ही दुष्कर कार्य है, फिर भी देव की मदद से ऐसा कार्य भी शक्य हो सकता है, परंतु लोभ रूपी समुद्र का पार पाना, अत्यंत ही कठिन है।

लोभ अर्थात् असंतोष।

लोभी व्यक्ति कभी तृप्त नहीं होता है। ईंधन से आग, नदियों से सागर व मृतकों से श्मशान जैसे तृप्त नहीं होती हैं, उसी प्रकार लोभी व्यक्ति धन से कभी तृप्त नहीं होता है।

संसार में धन आदि की प्राप्ति होती है, अपने अपने पुण्य के अनुसार।

पुण्य सीमित होने पर भी इच्छाएं तो असीम ही होती हैं।

इच्छाओं के ऊपर नियंत्रण पाए बिना लोभ सागर का पार पाना अत्यंत ही दुष्कर कार्य है।

इच्छाओं पर नियंत्रण हो तो अल्प पुण्यवाला व्यक्ति भी आत्म साधना के लिए योग्य पुरुषार्थ कर सकता है।

४३. विरति अर्थात् BRAKE (नियंत्रण)

मिथ्यात्व दूर हो जाने पर भी समकित्ती आत्मा को हेरान परेशान करने वाला पाप **अविरति** का है।

अविरति अर्थात् पाप के त्याग की प्रतिज्ञा का अभाव। समकित्ती आत्मा को पाप, कांटों की तरह चुभता है। वह पाप से बचने के लिए सतत प्रयत्नशील होती है।

जीवन में पापों का त्याग आने पर ही दान आदि धर्मों की आराधना हो सकती है।

भोग-सुखों को विरति के द्वारा नियंत्रित करना, इसी का नाम शील धर्म है।

आहारा की इच्छाओं को नियंत्रित करना-इसी का नाम तप है।

धन की इच्छाओं पर नियंत्रण करना-इसी का नाम दान धर्म है।

वाणी पर नियंत्रण रखना-इसी का नाम भाषा समिति और वचनगुप्ति है।

विचारों पर नियंत्रण रखना-इसी का नाम मनोगुप्ति है।

४४. काम से अर्थ की भयंकरता

काम में आसक्त व्यक्ति को अधम कहा जाय तो अर्थ में आसक्त व्यक्ति को अधमाधम कहा जाएगा।

कामी व्यक्ति इहलौकिक सुख का तो अनुभव करता है, परंतु जो धन में लुब्ध है, उसे तो इस लोक के सुख की भी अनुभूति प्राप्ति नहीं होती है।

विषयों के भोग के लिए शरीर सशक्त चाहिये, शरीर यदि कमजोर हो तो स्वतः ही व्यक्ति विषयों से विराम पा जाता है, परंतु धन की आसक्ति तो मन में रही हुई है और मन कभी भी बुढ़ा नहीं होता है।

वृद्धावस्था से काया जर्जरित हो जाती है परन्तु मन तो जवान ही बना रहता है।

धन की तीव्र आसक्तिवाला व्यक्ति अपने जीवन में हर प्रकार के पाप करने के लिए तैयार हो जाता है। हिंसा, झूठ व चोरी, किसी में उसे पाप नहीं लगता है।

संबंध

पूर्व काल में 'मृत्यु' जीवन के संबंधों को तोड़ने के लिए मजबूर करती थी, जब कि वर्तमान युग में मनुष्य स्वयं अपने संबंधों को तोड़ने के लिए कोर्टों के द्वार खटखटाता है पहले संबंधों में स्थिरता थी। आज संबंधों में चंचलता है।

शुभ पहले

घर व दूकान की दिवालों पर लिखा जानेवाला 'शुभ-लाभ' सूचित करता था कि हमें लाभ भी शुभ (अच्छा) चाहिये किंतु अन्याय व अनीति से प्राप्त अशुभ-लाभ हमें नहीं चाहिये।

४५. चेतन ! मोहनींद अब त्यागो !!!

रात्रि होती हैं और हर व्यक्ति निद्राधीन बनता हैं, परंतु रात्रि व्यतीत होने के बाद ज्योंहि दिन उगता हैं, व्यक्ति अपनी निद्रा को छोड़कर जागृत हो जाता है ।

रात की नींद में से जागृत होना आसान है । हर व्यक्ति मर्यादित घंटों के बाद नींद का त्याग करता ही है, इस बाह्य निद्रा का त्याग करना कठिन काम नहीं है परंतु अनादि काल से आत्मा मोह की गाढ नींद में सोई हुई है, उस नींद में से जागृत होना, अत्यंत ही कठिन कार्य है ।

मोह की गाढ निद्रा में सोई हुई आत्मा, देह में ही आत्म-बुद्धि कर देह के ही पालन पोषण और संवर्धन में तत्पर रहती हैं, उसे आत्मा के मूलभूत स्वरूप का न तो भान होता हैं और न ही आत्म स्वरूप को पाने के लिए उसका पुरुषार्थ होता है ।

आंख का अंधत्व इतना खतरनाक नहीं हैं जितना मोह का अंधत्व है । आंख के अंधापे में एक ही जीवन की समस्या रहती हैं, जबकि मोह का अंधापा तो आत्मा को अनेक भवों तक भटकाता है । मोह के अंधेपन ने आत्मा की भयंकर दुर्दशा की है ।

जब तक सद्गुरु के समागम द्वारा आत्मा के मोह का अंधत्व दूर नहीं होता है और जब तक सम्यग् दर्शन की आंख प्राप्त नहीं होती हैं, तब तक आत्मा की दुर्दशा की कोई सीमा नहीं है ।

४६. धर्म में मैत्री आदि भावना

जितनी भी मीठाइयाँ होती हैं, उन सब में शक्कर अवश्य होती हैं, जितने भी नमकीन होते हैं, उन में नमक व मीर्च अवश्य होती है । जहां मिठास नहीं वह मिठाई नहीं और जहां नमक नहीं, वह नमकीन नहीं ।

उसी प्रकार वो ही अनुष्ठान धार्मिक-अनुष्ठान हैं, जिसके भीतर मैत्री आदि भावनाएँ गर्भित रूप से रही होती है ।

जिस धार्मिक अनुष्ठान में मैत्री आदि भावनाएँ प्रगट या गर्भित रूप से रही हुई नहीं हैं, वास्तव में वह धार्मिक अनुष्ठान ही नहीं है ।

पूलिस की वर्दी पहिनने मात्र से किसी को डंडे मारने का अधिकार नहीं

मिल जाता है ।

बस, इसी प्रकार धर्म की क्रिया कर लेने मात्र से ही कोई अनुष्ठान, धार्मिक अनुष्ठान नहीं बन जाता हैं, इसके लिए उस अनुष्ठान के भीतर मैत्री आदि भावनाएँ भी होना अति आवश्यक है ।

मैत्री आदि भावनाओं से रहित होनेवाले अनुष्ठान भले ही बाह्य दृष्टि से धार्मिक अनुष्ठान दिखाई देते होंगे, परंतु वे अनुष्ठान तो प्राण रहित कलेवर की भांति निर्जीव ही है ।

४७. संयुक्त कुटुम्ब—विभक्त कुटुम्ब

संयुक्त परिवार में अनुकूलताएँ कम हो सकती हैं । संयुक्त परिवार में हर व्यक्ति अपनी मर्जी अनुसार नहीं चल सकता हैं, संयुक्त परिवार में अनेक नियम व बंधनों का पालन भी करना पडता हैं, परंतु उस संयुक्त परिवार का सबसे बड़ा फायदा था-उस परिवार मे स्त्रियों का शील व सदाचार सुरक्षित रहता है ।

आज सभी परिवार विखंडित हो गए है । आज हर व्यक्ति को स्वतंत्र जीवन चाहिये, लेकिन उस स्वतंत्र जीवन के साथ ही स्त्री के शील पर भयंकर संकट आ खडा हुआ है । छोटे परिवार में दिन में बच्चे स्कूल में होते है और घर का मालिक दुकान या आफिस में होता है । उस समय घर में अकेली रही स्त्री अपना अधिकांश समय टी.वी. आदि में प्रसार करेगी । टी.वी. के अशुभ आलंबन से मानसिक पतन हुए बिना नहीं रहता, इसके फलस्वरूप भविष्य में शारीरिक पतन हुए बिना नहीं रहेगा ।

४८. विनय

पुत्र का पिता के प्रति, पत्नी का प्रति के प्रति

बेटी का माँ के प्रति, बहु का सास के प्रति

शिष्य का गुरु के प्रति

व्यवहार कैसा होना चाहिये ? इसका एक ही जवाब हैं-

बडों के प्रति विनय पूर्वक व्यवहार होना चाहिये । विनय कैसे किया जाता है ?

इसका जवाब है-

- १) पिता / माता / पति / सास व गुरु के आगमन पर अपने आसन पर से खड़े हो जाना चाहिये ।
- २) उनके सामने तुकारे से (अशिष्ट शब्द प्रयोग) नहीं बोलना चाहिये ।
- ३) उनकी आज्ञा-आदेश का बहुमान पूर्वक स्वीकार करना चाहिये और यथा-शक्य उनका पालन करना चाहिये ।
- ४) उनकी हंसी-मजाक नहीं करनी चाहिये ।
- ५) उन्हें कटु लगे ऐसे मर्मघाती वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।
- ६) वे किसी से बातचीत कर रहे हो तब बीच में नहीं बोलना चाहिये ।

इस प्रकार बड़ों का विनय करने पर अपने अहंकार का नाश होता है ।
अहंकार का नाश होने पर अन्य सदगुणों की प्राप्ति सहजतया हो जाती है ।

विनीत व्यक्ति सभी का प्रिय पात्र बनता है, जिससे लोक में भी प्रतिष्ठा प्राप्त होती है ।

★ बड़ों का विनय करने से मोहनीय कर्म का क्षय होता है, जिससे आत्मा उसी भव में अथवा अल्प भवों में शाश्वत / अजरामर मोक्ष पद प्राप्त करती है ।

४९. औचित्य पालन

यदि आप

पिता है / पति है / सास है / माँ है / गुरु हैं तो

पुत्र के प्रति / पत्नी के प्रति / बहु के प्रति / पुत्री के प्रति तथा शिष्य के प्रति आपका व्यवहार औचित्य पूर्ण होना चाहिये ।

प्रश्न होगा-यह औचित्य क्या है ?

इसका जवाब है-

- १) छोटों (पुत्र, पत्नी, बहु, पुत्री व शिष्य) के प्रति अपने हृदय में वात्सल्य-भाव होना चाहिये ।
- २) उनके पूछने पर प्रेम से जवाब देना चाहिये, परंतु तिरस्कार-पूर्ण शब्द प्रयोग नहीं करना चाहिये ।
- ३) अनेक लोगों की उपस्थिति में उनका अपमान नहीं करना चाहिये ।

४) बड़े बनने पर कई अधिकार प्राप्त होते हैं, परंतु उन अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये ।

५) छोटों को सीख देनी हो तो वाणी में खूब मीठास होनी चाहिये ।

६) छोटों के दिल को ठेस पहुँचे इस प्रकार उनका गौरव-हनन नहीं करना चाहिये ।

७) छोटों के सत्कार्यों का योग्य सम्मान करना चाहिये । उनके सुकृतों की अनुमोदना करनी चाहिये ।

इस प्रकार छोटों के प्रति औचित्य पालन करने से उनके हृदय में बड़ों के प्रति प्रेमभाव आदरभाव बढ़ता है ।

अन्तर्मुख

बालक 'मातृमुख' होता है,

क्योंकि

उसकी नजर माता पर होती है ।

युवक 'पत्नी मुख' होता है,

क्योंकि

उसकी 'नजर पत्नी पर होती है ।'

वृद्ध 'पुत्रमुख' होता है

क्योंकि

उसकी नजर पुत्र की ओर होती है

जबकि धर्मी 'अन्तर्मुख' होता है

क्योंकि उसे बाहर की दुनिया देखने में नहीं,

अंतर की दुनियां देखने का रस होता है ।

वर्तमान काल

पूर्व काल में

पुत्र कहता 'पिताजी ! आप मुझे माफ़ करे .

आइंदा से ऐसा काम नहीं करूंगा ।'

वर्तमान काल में पिता कहते हैं

'बेटा ! मेरी भूल गई आइंदा से कभी नहीं कहूंगा ।'

५०. वासना

धन को देखकर पुरुष का मन ललचाता है और वह उसे पाने के लिए उत्सुक बन जाता है, उसी प्रकार युवक, नव यौवना कन्या को देखता है और उसके मन में वासना का भूत सवार होने लग जाता है। वह उसे पाने व भोगने के लिए उत्सुक हो जाता है।

संपत्ति की सुरक्षा उसे तिजोरी में गुप्त रखने में है तो स्त्री की सुरक्षा भी उसे गुप्त रखने में ही है। स्त्री का देह या स्त्री का रूप कोई प्रदर्शन की वस्तु नहीं है।

कीमती हीरों को गुप्त रखने में ही उनकी सुरक्षा है, उसी प्रकार स्त्री भी अपनी मर्यादा में रहे, तभी वह सुरक्षित है।

नव-रात्रि के नाम पर आज कई युवतियाँ घर छोड़कर मैदान में बाहर आती हैं, परंतु उसे पता नहीं है कि इस प्रकार घर छोड़ने में उसकी सुरक्षा नहीं है।

दांडिया रास के नाम पर अपनी वासनाओं को ही तृप्त करने का प्रयास किया जाता है, उसी के फल स्वरूप नव रात्रि के तीन-चार महिनों के बाद गर्भपात का प्रमाण अत्यधिक बढ़ जाता है।

५१. गुड जैसा माधुर्य !

गुड भी मीठा होता है, और गन्ना भी। परंतु दोनों के स्वभाव में बड़ा अंतर है। गुड को कही से भी चखें, उसमें सर्वत्र मीठास ही होती है, गन्ने में मीठास जरूर होती है, परंतु उसके बीच-बीच में गांठे होती हैं, जहां गांठे होगी-वहां मीठास नहीं होगा।

अपने जीवन में गुड जैसी माधुर्यता पैदा करें।

५२. अंतःकरण

अपने अंतःकरण में किसी के प्रति स्नेह का महासागर उछलने लगता है तो उसमें से सदगुणों के मोती बाहर आते दिखाई देते हैं-परंतु जब अपना

अंतःकरण किसी के प्रति द्वेष से परिपूर्ण बनता है, तब उस द्वेष के महासागर में से दोष रूपी मुर्दे ही बाहर आते नजर आते हैं।

महासागर के भीतर रत्न भी होते हैं और वो ही महासागर मुर्दों को बाहर फेंकता हुआ भी नजर आता है।

५३. संसार की करुणता

पुत्र की शादी हुई, माँ हंस रही थी और पुत्रवधु रो रही थी कुछ ही समय बाद बेटा, माता-पिता से अलग हुआ।
माँ रोती थी और पुत्रवधु हंस रही थी।

५४. आद्य धर्मः दान धर्म

दानं च शीलं च तपश्च भावो,
धर्मश्चतुर्धा जिन-बान्धवेन,
निरूपितो यो जगतां हिताय,
स मानसे मे रमतामज्रस्रम् ॥

अर्थ : जगत् के जीवों के हित के लिए जिनेश्वर परमात्मा ने दान, शील, तप और भाव रूप चार प्रकार के धर्म बतलाए हैं, यह चार प्रकार का धर्म मेरे मन में सदैव रमण करता रहे।

जगत् के जीवों पर असीम उपकार करनेवाले तारक अरिहंत परमात्मा ने जगत् के जीवों के आत्म-हित के लिए मोक्ष-मार्ग का उपाय बतलाया है। वह मोक्ष मार्ग दान-शील-तप और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है।

महोपाध्याय **श्री विनयविजयजी म.** ने 'शांत-सुधारस' ग्रंथ की 'धर्म भावना' में दान आदि चार प्रकार के धर्मों का स्वरूप समझाया है।

इन चार प्रकार के धर्मों में दान धर्म सबसे पहला धर्म है, अर्थात् जीवन में धर्म का प्रवेश कराना हो तो सर्व प्रथम दान धर्म को आत्मसात् करने के लिए प्रयत्न करना चाहिये।

५५. बुद्धिशाली कौन ?

बालक को पूछा गया,
'घोड़े और आदमी में बुद्धिशाली कौन ?'
जवाब मिला 'घोड़ा'
कैसे ?
'घोड़े की दोड़ देखने के लिए
हजारों आदमी इकट्ठे होते हैं,
आदमी की रेस Race को देखने के लिए एक भी घोड़ा नहीं ।

५६. मुखता

Birthday मनाना कितनी
हास्यास्पद बात है ।
Birthday का अर्थ है
'आपके आयुष्य के बेलेंस Balance में से
एक वर्ष कम हो गया ।'
इसका सीधा-सादा अर्थ है-
'आप एक वर्ष जल्दी मर जाओगे ।'
बहुमूल्य मानव जीवन में से
'एक वर्ष' कम हो जाय और
उसकी खुशी मनाना,
यह तो
कितनी मुखता की निशानी है ।
परंतु आश्चर्य है
आज के पढे-लिखे समझदार लोग भी
इस 'सत्य' को
समझ नहीं पा रहे है ।

५७. शांति नहीं

आकर्षक बंगला खडा करना
आसान है । उस बंगले में
Tip-Top फर्नीचर का सेटिंग करना
आसान बात है, परंतु उस बंगले में
परिवार का प्रेम से जीना मुश्किल है ।
क्योंकि बंगला व फर्नीचर
धन से खरीदा जा सकता है, लेकिन
पारस्परिक स्नेह-भाव नहीं । इसी का परिणाम है
बंगला सुंदर है, लेकिन बंगले में शांति नहीं !

५८. कचरा

झाडू द्वारा घर में रहे कचरे को
हम बाहर निकालते है
जबकि टी.वी. द्वारा
दुनिया में रहे कचरे को
हम अपने मन में लाते है ।
घर के कचरे से कदाचित् कपडे गंदे होंगे,
जबकि टी.वी. के अश्लील दृश्यों से
मन गंदा होगा ।
शरीर की गंदगी से भी मन की गंदगी
अत्यंत ही भयंकर है ।



प्रश्न : पर्व तिथि या पर्व दिनों में पके हुए फल खा सकते हैं ?

उत्तर : नहीं, पके हुए फल भी हरी वनस्पति में ही आते हैं। हरी वनस्पति में स्वाद अधिक होने से राग का कारण है, अतः अनंतज्ञानी महापुरुषों ने राग-पोषक हरी वनस्पति के त्याग का ही विधान किया है, परंतु जो सदा के लिए हरी वनस्पति का त्याग नहीं कर सकता उसे भी अपने राग भाव को तोड़ने के लिए पर्वतिथि या पर्वदिनों में हरी वनस्पति का त्याग करना ही चाहिये।

प्रश्न : श्रीमंत (धनवान्) व्यक्ति में कौन से गुण होने चाहिये, जिससे उसकी श्रीमंताई दोष-पात्र न बने ?

उत्तर : हमेशा याद रखे

१) धन खराब नहीं है, धन की वासना खराब है।

२) धन से धर्म नहीं होता है, धन के त्याग से धर्म होता है।

धनी व्यक्ति को निंदा पात्र होने से बचना हो तो निम्न गुणों को आत्मसात् करना चाहिये।

१) **उदारता :** धनी व्यक्ति में उदारता होनी चाहिये ! 'धन मिलता है, पुण्य से और पुण्य का बंध होता है, दान से ! दान से लक्ष्मी घटती नहीं है, बल्कि बढ़ती जाती है।

कुँआ जल का दान करता है तो उसमें नया-नया जाल आता ही रहता है। याद रखे-दान से लक्ष्मी घटने के बजाय चिरस्थायी रहती है।

२) **नम्रता :** धनी व्यक्ति को धन का अभिमान नहीं करना चाहिये। अभिमान तो पतन की सीढ़ी है। जिस वस्तु का हम अभिमान करते हैं प्रकृति हमारे पास से वह वस्तु छिन लेती है, अतः भूल से भी धन का अभिमान न करें। जो धनी व्यक्ति नम्र होता है, वह सभी के लिए आदर पात्र बन जाता है।

३) **कल्याण मित्र रखें :** धन आने पर व्यक्ति क्या खोता है ? तो उसका जवाब है- 'सच्चा मित्र ! धनी व्यक्ति के मित्र बहुत होंगें परंतु वे सब चापलूसी करने वाले होंगें, हों में हों मिलाने वाले होंगें। अतः धनी व्यक्ति को कम से कम एक ऐसा कल्याण मित्र रखना चाहिये, जो उसे हर प्रसंग

में सच्ची सलाह दे।

४) **दुःखी प्रति दया :** दुःखी प्राणियों के प्रति उपेक्षा भाव नहीं होना चाहिये, बल्कि उनके प्रति दया-प्रेम-करुणा भाव होना चाहिये। याद रखे 'दुःखियों की 'हाय' अग्नि से भी ज्यादा खतरनाक है।'

५) **सदाचारी बनें :** निर्धन व्यक्ति अपनी इच्छा पूर्ति के लिए धनवान् व्यक्ति का आश्रय लेगा। लेकिन अपने आश्रितों की इज्जत लूटने का धनी व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं है। धनी व्यक्ति को सदाचारी बनना चाहिये। सदाचार अर्थात् जिसकी आंखें पवित्र हो !

प्रश्न : प्रभु के शरीर पर रहे वासक्षेप को अपने शरीर पर लगा सकते हैं ?

उत्तर : नहीं।

प्रश्न : अष्ट मंगल की पूजा होती है ?

उत्तर : नहीं ! चावल आदि से अष्ट मंगल का आलेखन करना चाहिये।

प्रश्न : पार्श्वनाथ प्रभु के फणों की पूजा करने के बाद उसी केसर से प्रभु की पूजा कर सकते हैं ?

उत्तर : परमात्मा के जो अंगों पर ही पूजा करने की विधि है, फिर भी यदि फणों की पूजा की हो तो भी उस केसर से प्रभु की पूजा कर सकते हैं।

प्रश्न : घर में स्त्रियों M.C. का पालन नहीं करती हो तो अन्य लोग पूजा कर सकते हैं या नहीं ?

उत्तर : M.C. का पालन नहीं करना महादोष रूप है। फिर भी कोई M.C. न पालती हो तो पूजा करनेवाले को स्नान जल अलग रखना चाहिये। अंतरायवाली स्त्री पूजा के कपड़े व पूजा की सामग्री का स्पर्श नहीं करती हो तो पूजा करने में कोई बाध नहीं है।

प्रश्न : गुरु मुद्रा में रहे गणधर आदि की नवांगी पूजा कर सकते हैं ?

उत्तर : हाँ !

